प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक तुलसीदास-संबंधी मेरे लेखोंका संग्रह है। इसमें संगृहीत लेख पिछले चार वर्षोंमें हिंदीकी विभिन्न पत्रिकाओंमें प्रकाशित हुए हैं। आज वे संशोधित रूपमें पाठकोंके सामने रक्खे जा रहे हैं। तुलसीदासकी रचनाओंके संबंधमें समालोचनात्मक कार्य बहुत हुआ है, किंतु उनके जीवन और रचनाओंके संबंधमें वैज्ञानिक शैलीपर खोजका कार्य अभी अधिक नहीं हुआ है। इस संग्रहके लेखोंमें यथा-संभव वैज्ञानिक शैलीका अनुसरण करनेका प्रयत्न किया गया है। उसमें लेखकको सफलता कहाँतक मिली है यह कहना विद्वानोंका काम है।

इस कार्यमें वयोवृद्ध साहित्य सेवी और प्राच्य भाषा विशारद सर जार्ज ए० ग्रियर्सन, लंदन विश्वविद्यालयमें हिंदीके रीडर डाक्टर टी० ग्रैहेम बेली, सुप्रसिद्ध फरांसीसी विद्वान् ज्यूल ब्लॉक तथा प्रयाग विश्वविद्यालयमें हिंदीके रीडर और हिंदी विभागके अध्यक्ष श्रीधीरेंद्रजी वर्माने अपनी सम्मतियोंसे मुझे प्रोत्साहित किया है। इसलिए मैं इन विद्वानोंका कृतज्ञ हूँ।

'हिंदुस्तानी', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' 'विशालभारत', तथा 'कल्याण' के संपादकोंका मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इन लेखोंको पुस्तकाकार छपानेकी अनुमति दी है।

उद्धृत स्थलोंके लिए, मैंने 'रामचरितमानस' का पाठ श्रीरामदास गौड़के संस्करणसे तथा अन्य रचनाओंका पाठ काशीकी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी ग्रंथावली' भाग २ से लिया है। यद्यपि इन संस्करणोंमें भी संपादनकी त्रुटियाँ हैं, फिर भी हम उनपर अधिकतर निर्भर रह सकते हैं।

प्रयाग, माताप्रसाद गुप्त

२८ सितंबर, १९३५

प्रसिद्ध रूसी विद्वान् प्र० बरान्निकोव, लेनिनग्राडसे लिखते हैं—

—'रामाज्ञा प्रश्न' संबंधी आपका लेख मैंने बड़े चावसे पढ़ा, और उससे मुझे बहुत लाभ हुआ। मैं स्वतः कुछ समयसे तुलसीदासका अध्ययन कर रहा हूँ।...... आपका यह विद्वत्तापूर्ण लेख मेरे बहुत कामका है।

श्रीधीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, प्रयाग विश्व विद्यालयमें रीडर और हिंदी विभागके अध्यक्ष, पेरिससे लिखते हैं—

—प्रकाशित निबंधोंको पुस्तकाकार छपानेका विचार बहुत उत्तम है। वास्तवमें इन लेखोंके एक जगह संग्रहीत हो जानेसे 'तुलसीदास' के विद्यार्थी विशेष लाभ उठा सकेंगे। भविष्यकी खोजके लिए यह ग्रंथ पथ प्रदर्शक होगा।

प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, प्रयाग विश्वविद्यालयमें अंग्रेज़ी विभागके अध्यक्ष लिखते हैं—

—तुलसीदास संबंधी आपके लेख विशद, विचारयुक्त तथा परिश्रमपूर्ण हैं, और वे अत्यंत सावधानतापूर्वक लिखे गए हैं।

श्रीश्यामसुंदरदास बी० ए० रायबहादुर, काशी विश्वविद्यालयमें हिंदी विभागके अध्यक्ष, लिखते हैं—

—'काल क्रम' संबंधी आपका लेख मैंने पढ़ा। आपकी विवेचनप्रणाली प्रशंसनीय है।

पंडित रामचंद्र शुक्ल, काशी विश्व विद्यालयमें हिंदीके अध्यापक, लिखते हैं—

—'मूल गोसाईंचरितकी ऐतिहासिकतापर कुछ विचार'-नामक आपका प्रबंध मैंने पहले भी पढ़ा था और भी पढ़ गया। मुझे यह देखकर सचमुच बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपने इतने ब्योरेके साथ उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध कर दी।

श्रीरामदास गौड़, एम्० ए० लिखते हैं—

—'कवितावली' पर आपका लेख पहले ही पढ़ चुका हूँ, 'गोसाईं' पर भी आपका लेख पढ़ गया। आपकी लेख शैली और विचार-सरणी देखकर सराहना किए बिना नहीं रह सकता।

श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम्० ए०, भाषा-तत्त्व रत्न, कलकत्ता विश्व-विद्यालय में हिंदी विभागके भूतपूर्व-अध्यक्ष, लिखते हैं—

—आपका 'रचनाओंका कालक्रम'-संबंधी लेख परिश्रमपूर्ण खोज तथा अपूर्व विद्वत्तासे भरा हुआ है। इस परम मूल्यवान कृतिके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। हिंदी साहित्य संसार आपकी इस बहुमूल्य सेवाके लिए आपका ऋणी रहेगा।

विषय-सूची

पृष्ठ

'तुलसीदास' नामके साथ लगे हुए 'गोसाईं' शब्दका रहस्य

'गोसाईं' शब्द संस्कृत 'गोस्वामी' का एक विकृत रूप है, जिसका अर्थ मूलतः 'इंद्रिय-निग्रही' होता है। किंतु इस शब्दका प्रयोग एक सीमित अर्थमें कई शताब्दियोंसे होता चला आ रहा है, फलतः कभी-कभी जब हम साधारण योगियों और सन्यासियोंको भी इस शब्द-द्वारा संबोधित करते हैं तो वह अधिकतर हमारी असावधानीका परिचायक होता है। वस्तुतः गोसाईं' उपाधिके अधिकारी वे ही साधु माने जाते हैं जो कतिपय विशिष्ट संप्रदायोंमें दीक्षित होते हैं। ऐसे संप्रदाय गिनतीके पाँच हैं—'वृंदावनी,' गौडीय,' 'गोकुलस्थ,' 'राधावल्लभी' और 'दशनामी'।

'वृंदावनी' गोसाईं राधा-कृष्णके उपासक होते हैं। इनके प्रथम आचार्य कदाचित् महात्मा निम्बार्क थे, जिनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

'गौडीय' गोसाईं कृष्णोपासक होते हैं। इनके आदि-आचार्य चैतन्य महाप्रभु थे, जिनका गोलोकवास सं० १५८४ में हुआ माना जाता है।[1] नाभादासजीके समयमें पूर्वीय भारतमें चैतन्यस्वामी कृष्णके अवतार माने जाते थे, जिसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने एक छप्पयमें किया है।[2] चैतन्य-देवके प्रेमका आदर्श गोपियोंका प्रेम था और यही उनके अनुयाइयोंका भी हुआ।

'गोकुलस्थ' गोसाईं उपाधि द्वारा महाप्रभु वल्लभाचार्यके दूसरे पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ और उनके उत्तराधिकारी अभिहित होते हैं। गोसाईं विट्ठलनाथजीका समय सं० १५७२ से सं० १६४४ तक माना जाता है। गोसाईं विट्ठलनाथजी वात्सल्य-भावके साथ कृष्णके उपासक थे। नाभादासजीने लिखा है कि नंदने द्वापरमें "कृष्ण-प्रेममें वात्सल्य-सुखका जो अपूर्व अनुभव किया उसीका अनुभव कलियुगमें वल्लभाचार्यके पुत्र विट्ठलनाथने अपने पुत्रोंके

---

[1] रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्यका इतिहास,' पृष्ठ २७९

[2] 'भक्तमाल,' छप्पय ७२

प्रेममें किया ।[१] फलतः कृष्णकी वात्सल्य-भाव-मयी उपासना ही इस संप्रदायकी प्रमुख विशेषता हुई । इस संप्रदायके अधिष्ठात्रि-देव श्रीनाथजी हैं, जो पहले गोवर्धनमें स्थापित थे, किंतु सं० १७२८ में जो नाथद्वारेमें स्थापित हैं ।[२]

'राधावल्लभी' संप्रदायके संस्थापक हितहरिवंशजी थे, जो तुलसीदासके समकालीन थे । कहा जाता है कि राधिकाजीने इन्हें स्वप्नमें मंत्र दिया था, जिससे प्रेरित होकर इन्होंने 'राधावल्लभी' संप्रदायकी स्थापना की । सं० १५८२ में इन्होंने राधावल्लभकी मूर्ति वृंदावनमें स्थापित की थी और वहीं विरक्त भावसे रहने लगे थे ।[३] इनकी उपासनाके संबंधमें लिखते हुए नाभादासजीने लिखा है कि "इनकी भक्ति प्रधानतः श्रीराधाके चरणोंमें अत्यंत दृढ़ थी और इन्होंने दंपतिके केलिकुंज-संबंधी सेवाओंका भार विशेष-रूपसे अपने ऊपर लिया था ।"[४] फलतः, अब भी इस संप्रदायकी भक्ति सखीभावकी मानी जाती है ।[५]

'दशनामी' गोसाइयोंके गिरि, पुरी, भारती आदि दस भेद होते, हैं इसी कारण उनका यह नाम पड़ा । अधिकतर इन्हें शैव-संप्रदायका अंग माना जाता है, किंतु वस्तुतः शिवकी उपासना इस संघमें अनिवार्य नहीं है । सन् १८७१-८२ में लिखे हुए इस संबंधमें प्रमाण माने जानेवाले अपने ग्रंथ 'हिंदू ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऐज़ रिप्रेज़ेंटेड ऐट् बनारस' (पृ० २५५) में लिखते हुए एम्० ए० शेरिंग साहब कहते हैं, "भारतके इस भागमें दशनामी गोसाईं विष्णुके उपासक होते हैं, यद्यपि कुछ अन्य भागोंमें वे शिव-भक्त जान पड़ते हैं । प्रत्येक स्थानपर श्रीशंकराचार्य ही उनके गुरु माने जाते हैं ।" फलतः इनका धर्म 'स्मार्त' है जिसके पुनरुद्धारक श्रीशंकराचार्य थे । श्रीशंकराचार्यने अद्वैत-मत और ज्ञान-मार्गके पोषक होते हुए भी उसके आदर्शकी दुरूहताके कारण कुछ देवताओंकी

---

१ 'भक्तमाल', छप्पय ९८

२ 'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३३ ई०, पृ० १०३-१०७

३ रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्यका इतिहास', पृ० १७७

४ 'भक्तमाल', छप्पय ९०

५ 'मूल गोसाईंचरित'-कार ने लिखा है कि "वृंदावनसे हितहरिवंशने तुलसीदासके पास अपने दो प्रिय शिष्योंके हाथ 'यमुनाष्टक', 'राधा-सुधा-निधि', और 'राधिकातंत्र महाविधि' नामक ग्रंथ भेजे थे, और एक पत्रिका भेजी थी जो सं० १६०९ की जन्माष्टमीकी थी । उस पत्रिकामें यह लिखा हुआ था, और शिष्योंसे भी हितजीने जबानी कहलाया था, कि आनेवाली कार्तिकी पूर्णिमाके दिन ही शरीर-त्याग करनेकी उनकी बड़ी आकांक्षा थी, इसीलिए वे गोस्वामीजीसे आशीर्वाद चाहते थे कि वे कुंज लाभ करें । इस विनतीको सुनकर तुलसीदासने 'एवमस्तु' कहा और हितजीने शरीर त्यागकर तदनुसार नित्य निकुंजमें प्रवेश किया ।" ('मूल गोसाईंचरित,' दो० ८) किंतु 'मूल गोसाईंचरित' की कितनी बातें मान्य हैं यह कहना कठिन है (देखिए 'मूल गोसाईंचरित' की ऐतिहासिकतापर कुछ विचार' शीर्षक लेख आगे)।

उपासना साधन-रूपसे मान ली थी—विशेषतः पंच-देव अर्थात् शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश, और शक्तिकी। 'स्मार्त' धर्मका मूल-सिद्धांत इस प्रकार है—"ब्रह्म या परब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, वही इस जगतका कारण और विधाता है, और वह शिव, विष्णु, और ब्रह्मा या किसी भी देवतासे भिन्न है। उस ब्रह्मका ज्ञान ही सबसे अधिक श्रेयस्कर है। उसके यथार्थ ज्ञानमें मुक्ति और अद्वैतता प्राप्त होती है। किंतु इसलिए कि मनुष्यका मस्तिष्क उस अनिर्वचनीय मूल-कारणके अनुभवके लिए असमर्थ है, उसका अनुभव देवताओंके ध्यान-द्वारा किया जा सकता है, और उसकी प्राप्तिके लिए शास्त्रोक्त साधनोंको व्यवहारमें लाया जा सकता है। यह धर्म हिंदुओंके सभी देवताओंका आदर करता है, और निम्नलिखित देवताओंकी उपासनाका तो शंकराचार्यकी ही स्पष्ट अनुमतिसे उनके शिष्योंने उपदेश किया था—शिव, विष्णु, कृष्ण, सूर्य, शक्ति, गणेश, और भैरव।"[१]

अब, प्रश्न यह है कि तुलसीदास ऊपरके पाँच प्रकारके गोसाइयोंमेंसे किसमें स्थान पा सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि न तो उन्हें 'वृंदावनी' गोसाईं कहा जा सकता है, न 'गौड़ीय', न 'गोकुलस्थ', और न 'राधावल्लभी'। हमें यह देखना है कि क्या वे 'दशनामी' गोसाइयोंमें रक्खे जा सकते हैं।

यदि हम गोस्वामी तुलसीदासकी रचनाओंको पढ़कर उनके दार्शनिक और धार्मिक विचारोंका समन्वय करते हैं, तो हम उन्हें पूरा 'स्मार्त' पाते हैं। शुद्ध 'वैष्णव' धर्म और 'स्मार्त' धर्ममें एक महान् अंतर है, वह यह है कि 'वैष्णव' धर्म 'एकांतिक' धर्म है, उसके शुद्ध रूपमें विष्णु और उनके किसी अवतारके अतिरिक्त किसी अन्य देवताके लिए स्थान नहीं है, और 'स्मार्त' धर्म सभी देवताओंको आदरकी दृष्टिसे देखता है। एक दूसरा अंतर दोनोंमें यह है कि 'वैष्णव' धर्म विष्णुको ही ईश्वर और सर्वश्रेष्ठ शक्ति मानता है, किंतु 'स्मार्त' धर्म त्रिदेवोंसे परे ब्रह्मको ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति, और मूल-कारण मानता है; उसकी दृष्टि में त्रिदेव अथवा किसी भी देवताकी उपासना वहींतक सार्थक है जहाँतक वह उस अनिर्वचनीय शक्तिका अनुभव करा सकती है। यदि हम इस दृष्टिसे गोस्वामीजीकी रचनाओंका अध्ययन करते हैं तो हमें पहलेकी अपेक्षा दूसरे ही धर्मकी ओर उनका स्पष्ट झुकाव जान पड़ता है।

तुलसीदासने अपनी संपूर्ण रचनाओंमें रामको ब्रह्म कहा है और कितने ही स्थलोंपर उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, और शिवसे भी ऊपर माना है।

विधि हरि संभु नचावन हारे।

१ 'एनसाइक्लोपीडिया अव् रेलिजन ऐंड एथिक्स' के 'स्मार्त' शीर्षक लेखसे।

में 'नचावन' शब्द द्वारा अपनी यह धारणा उन्होंने नितान्त स्पष्ट कर दी है। किंतु जो बात अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह है कि राम 'हरि (विष्णु) को भी नचानेवाले हैं। इसी सिद्धांतको 'मानस'के सती मोह-प्रकरणमें एक प्रत्यक्ष घटनाके रूपमें उन्होंने इस प्रकार रक्खा है—

सती दीख कौतुक मग जाता । आगे राम सहित श्री भ्राता ॥
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा । सहित बंधु सिय सुंदर बेषा ॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना । सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना ॥
देखे सिव बिधि विष्णु अनेका । अमित प्रभाउ एक ते एका ॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ॥
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा । रामरूप दूसर नहिं देखा ॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे । सीता सहित न बेष घनेरे ॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता । देखि सती अति भई सभीता ॥[१]

यहाँ भी हम यही बात पाते हैं—सभी देवता जिनमें विष्णु भी सम्मिलित हैं रामके चरणोंकी वंदना करते हैं और उनकी पूजा करते हैं। किंतु इस प्रसंगमें इतना और भी ध्यान देने योग्य है कि देवता अनेक वेषोंमें रामकी पूजा करते हैं किंतु रामका रूप परिवर्तित नहीं होता। यद्यपि सतीने अनेक राम भी देखे किंतु सीता-राम (अर्थात् माया और ब्रह्म) का वेष उन अनेक परिस्थितियोंमें भी वही बना रहा। यह तथ्य इस प्रकारसे रखनेमें तुलसीदासका प्रयोजन यह जान पड़ता है कि वे रामका निर्देश उस अपरिवर्तनीय मूल-सत्ताके रूपमें करना चाहते हैं जिसे दार्शनिक भाषामें ब्रह्म कहकर अभिहित किया जाता है।

वस्तुत तुलसीदासके राम विष्णुके अवतार नहीं हैं, वे स्वय सगुण ब्रह्म हैं, यदि 'मानस में एकाध स्थलपर हमें यह भी मिलता है कि राम विष्णुके अवतार हैं तो यह उस 'अध्यात्म-रामायण' की प्रतिच्छाया है जिसमें आदिसे अततक रामको विष्णुका अवतार, विष्णुको ईश्वर, और ईश्वरको सर्वोपरि सत्ता माना गया है। दूसरी ओर, 'मानस की तो पूरी कथा ही पार्वतीकी इस शकाके समाधानके लिए कही गई है—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥[२]

किंतु, स्वय तुलसीदासने भी उन राम-ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए अन्य देवताओंकी उपासनाकी थी—'विनयपत्रिका' के अनेक पदों और स्तोत्रोंमें उन्होंने

[१] 'रामचरितमानस,' बाल०, दो० ५४, ५५ (रामदास गौडका सस्करण)
[२] वही, बाल०, दो० ५०

सनातनसे चले आते लगभग सभी हिंदू देवियों और देवताओंक वंदना की है। और, 'मानस' के अयोध्याकाडमें चित्रकूट आए हुए अयोध्याके नर-नारियोंसे भी उन्होंने पंचदेव-पूजा करवाई है, जो अन्य किसी 'रामायण' में नहीं मिल सकती। चौपाइयाँ इस प्रकार हैं—

एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सब कोऊ॥
करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनपति गौरि पुरारि तमारी॥
रमा रमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी॥[१]

ऊपर 'दशनामी' गोसाइयों और 'स्मार्त'-धर्मका परिचय देते हुए जिन पाँच प्रमुख देवोंका उल्लेख किया गया है, हम देखते हैं कि उन्हींका उल्लेख ऊपरकी चौपाइयोंमें भी हुआ है।

एक अन्य प्रकारसे भी यह अनुमान होता है कि तुलसीदास 'स्मार्त' थे—वह है 'मानस'-रचनाके प्रारंभकी तिथि-द्वारा। रामनवमियाँ दो होती हैं, एक स्मार्तोंकी और दूसरी वैष्णवोंकी। स्मार्तोंकी रामनवमी उस दिन पडती है जिस दिन मध्याह्नमें भी नवमीकी तिथि रहती है, किंतु वैष्णवोंकी रामनवमी उस दिन पड़ती है जिस दिन वह तिथि मध्याह्नके पूर्व ही समाप्त हुई रहती है। यदि हम किसी भी वर्षके पचागको उठा कर देखें तो यह भेद स्पष्ट हो जायगा। 'मानस' के प्रारंभकी तिथि तुलसीदास इस प्रकार देते हैं—

संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नवमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥[२]

गणनासे यह भलीभाँति प्रमाणित है, कि वैष्णवों की रामनवमी सं० १६३१ मे बुधवार को पड़ती है और स्मार्तोंकी मंगलवारको। यहाँपर तुलसीदासने स्पष्ट ही भौमवार (मंगलवार) को रामनवमी मानकर अपने विश्व विश्रुत ग्रंथके प्रणयनका प्रारंभ किया है, फलत उनके 'स्मार्त' होनेमें और भी कम संदेह रह जाता है।

'दशनामी' गोसाईं अधिकतर शिवोपासक ही हुआ करते हैं, इस कारण बहुधा उन्हें शैव-संप्रदायकी एक शाखा-मात्र माना जाता है, जो कदाचित् नितांत ठीक नहीं है क्योंकि उनका धर्म 'स्मार्त' है जैसा ऊपर कहा जा चुका है। और शिवके लिए तुलसीदासके हृदयमें अत्यंत ऊँचा स्थान है, यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम सभी जानते हैं। अपने 'मानस' के प्रारंभिक तीन कांडों का

---

१ 'रामचरितमानस', अयोध्या०, दो० २७३ (रामदास गौडका संस्करण)
२ वही, बाल०, ३४

प्रारंभ ही से शिवकी वंदनासे करते हैं, और रामकी वंदना तीनों बार वे उसके पीछे करते हैं। पुनः, 'मानस' की भूमिका में वे कहते हैं—

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी॥
सेवक स्वामि सखा सिय पिय के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥[1]

हित-उपदेशके लिए शंकरको गुरु माननेकी बातका समर्थन वे अपने जीवनके अंतिम दिनोंमें कहे गए नीचे लिखे छंदकी दूसरी पंक्तिमें स्पष्ट रूपसे कहते हैं—

सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित
हित उपदेसको महेस मानो गुरु कै॥
मानस बचन काय सरन तिहारे पाय
तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै॥
ब्याधि भूत जनित उपाधि काहू खलकी
समाधि कीजे तुलसी को जानि जन फुर कै॥
कपिनाथ रघुनाथ भोलानाथ भूतनाथ
रोगसिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै॥[2]

संतोंने गुरु और गोविंदमें कभी अंतर नहीं किया है, और तुलसीदासने तो 'विनयपत्रिका' के एक स्तोत्रमें जो 'हरि शंकरी' नामसे प्रख्यात है दोनोंकी स्तुति भी एकत्र की है।[3] इतना ही नहीं, 'विनयपत्रिका' के एक अन्य स्तोत्रमें उन्होंने शिवको न केवल 'निर्गुणं निर्विकारं' कह कर संतोष किया है वरन् 'विष्णु-विधि-वंद्य-चरणारविंदं' तक कह डाला है।[4]

प्रश्न यह है कि क्या सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीका निरा वैष्णव कभी यह कह सकता था कि राम ब्रह्मा, विष्णु, और शिवको 'नचानेवाले' हैं, अथवा उससे भी अधिक यह कि शिवके चरणोंकी वंदना विष्णु और ब्रह्मा भी करते हैं। यदि ऐसे वैष्णव साधुके सिरकी विधिवत् पूजा 'वैरागी' नामक विरक्त-वैष्णव-दलने न की तो निस्संदेह उसने अपने दलके इतिहासमें एक असामान्य घटनाको स्थान दिया। किंतु न तो कोई इस प्रकारकी जनश्रुति है और न इस विषयका कोई उल्लेख तुलसीदासने ही किया है कि वैष्णवोंने भी उन्हें कभी कष्ट पहुँचाया। उलटे, उन्होंने यह कहा है कि शिवके उपासकों और सेवकोंने उन्हें पीड़ा पहुँचाई। 'विनयपत्रिका' के एक पदमें वे शिवसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

---

१ 'रामचरितमानस,' बाल०, दो० १५ (रामदास गौड़का संस्करण)।
२ 'बाहुक,' ४३
३ 'विनयपत्रिका,' ४९
४ वही, १२

गाँव बसत बामदेव कबहुँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहै सठ साखि सिहोरे॥[1]

कितनी आर्त प्रार्थना है! 'तुम्हारे गाँवमें बसते हुए भी मैंने तुमसे कभी कोई याचना नहीं की...।' और, 'कवितावली'के एक छंदमें वे यहाँतक कहते हैं, 'यदि आप मेरी प्रार्थना नहीं सुनते तो मुझे अपने स्वामी से कहना पड़ेगा। उसपर यदि मेरे स्वामी आपको कुछ उलाहना दें तो उसके लिए मुझे मत उलाहना दीजिएगा, मैं अपना कर्तव्य कर चुका'—

देवसरि सेवौं बामदेव गाँव रावरे ही
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछु
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं॥
एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइ कै उराहनो उराहनो न दीजै मोहि
काल-कला कासीनाथ कहे निबरत हौं॥[2]

अब, प्रश्न यह है कि किसी ऐसे वैष्णवको शिवके सेवकोंने क्यों कष्ट पहुँचाया होगा जो वैष्णव होता हुआ भी शिवके लिए 'विष्णु-विधि-वंद्य-चरणारविंद' पद का प्रयोग करता हो।

बाहुपीडाके भयंकर रूप धारण करनेपर अपने जीवनसे निराश-से होते हुए तुलसीदासने 'बाहुक'के दो छंदोंमें अपने पिछले जीवनकी कुछ कथा बड़े सुंदर ढंगसे कह डाली है। इन्हींमेंसे एक इसप्रकार है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
परयो लोकरीति में पुनीत प्रीति रामराय
मोहबस बैठ्यो तोरि तरक तराक हौं॥
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥[3]

---

[1] 'विनयपत्रिका', ८
[2] 'कवितावली', उत्तर० १६५
[3] 'बाहुक', ४०

अर्थात् 'बाल्यावस्थामें मैं स्वभावतः राम-सन्मुख हुआ, रामका ही नाम लेकर टुकड़े माँगता खाता था। फिर लोकाचारोंमें पड़कर जब मोहवश रामकी पुनीत प्रीतिको सहसा तोड़ बैठा तब मुझे दुराचरणोंमें पड़ा हुआ देखकर रामके सेवक हनुमानने मेरा उद्धार किया और मुझे रामके पवित्र चरणोंकी प्राप्ति हुई। किंतु, मैं 'गोसाईं' होगया और अपने दुर्दिनोंको भूल गया उसीका फल अंतमें मैं भलीभाँति इस रूपमें पारहा हूँ।' उस 'फल'की ओर आगेके छंदमें इन शब्दोंमें संकेत किया गया है—

ताते तनु देखियत घोर बरतोर मिस
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ॥[1]

इन कुछ बातोंके आधारपर स्वतः यह धारणा होती है कि 'तुलसीदास' नामके आगे लगा हुआ 'गोसाईं' शब्द केवल विरक्तिका परिचायक नहीं है। संभवतः यह उनके किसी 'गोसाईं' उपाधि देनेवाले सम्प्रदायमें दीक्षित होनेपर उनके नामके साथ लगा। यह 'गोसाईं' सम्प्रदाय कमसे कम इस समयके वैष्णव-गोसाईं सम्प्रदायोंमें से कोई न था। गोसाईंजीकी कृतियोंमें 'स्मार्त' मतकी इतनी गहरी छाप है, और शिवके प्रति उनकी इतनी ऊँची भावनाएं हैं कि अधिकतर संभव यही जान पड़ता है कि वे 'दशनामी' सम्प्रदायमें दीक्षित हुए थे—या ऐसे ही किसी अन्य 'स्मार्त' सम्प्रदायमें, जो 'गोसाईं' उपाधि अपने अनुयायियोंको देता था और अब वह सम्प्रदाय लुप्त होगया है। यह भी निश्चित-सा है कि वे 'स्मार्त' अंततक नहीं बने रहे, और विशेषतया पक्के 'वैष्णव' होगए, कदाचित् इसीकारण शिवके सेवकोंने उन्हें कठिन पीड़ा भी पहुँचाई, किंतु वह 'गोसाईं' उपाधि जो एकबार उन्हें मिल चुकी थी अंततक उनके नामके साथ लगी रही और आज भी लगी चली आरही है। यह क्रिया कालांतरके प्रयोगके कारण इतनी स्वाभाविक-सी होगई है कि अधिकतर हम तुलसीदासका नाम लेने के स्थानपर जब कभी उनका बोध कराना होता है, केवल 'गोसाईंजी' या 'गोस्वामीजी'-नामक उनकी उपाधियोंद्वारा ही उनका बोध कराते हैं। किंतु वस्तुतः, क्या उनके नामके साथ लगा हुआ 'गोसाईं' शब्द इतना निरीह है कि हमें उसपर विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं? संभवतः इसमें एक तत्व छिपा हुआ है जिसके अनुसंधानका प्रयत्न कदाचित् अभीतक नहीं किया गया है। आशा है कि विद्वानोंका ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित होगा।

---

[1] 'बाहुक', ४१

'कवितावली' और तुलसीदासके अंतिम दिन

लेखकको कुछ दिन हुए काशीके साहित्यरंजन पं० विजयानंद त्रिपाठी के यहाँ 'कवितावली' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति देखनेको मिली थी। जिसप्रकार अन्य प्रतियोंमें 'कवितावली'के साथ 'हनुमानबाहुक' भी रहता है, उसीप्रकार वह इसमें भी है। यह प्रति यद्यपि १८२० वि० की है, फिर भी अभीतक जितनी प्रतियाँ उस ग्रंथकी प्राप्त हो सकी हैं, उनमें यही सबसे प्राचीन है। इसकी समाप्ति इस प्रकार है—

"इति श्री कवित्तरामायने गोसाइ तुलसीदासकृत बाहुक सहितं समाप्तं॥ सुभं संवत् ॥ १८२० ॥ शाके ॥ १७३५ ॥ माघ सुदी ॥ ३ ॥ सोमवार जथा प्रति लिषा ॥ राम राम राम राम ॥ आरतपाल कृपाल वै राम जेही सुमिरे तेहिको सहँ ठाढे। नाम प्रताप महा महिमा अकरे किये खोटेउ छोटेउ वाढे॥ सेवक येक ते येक"

"—येक ते येक" के बाद प्रति खंडित है, जिससे ठीक-ठीक यह कहा नहीं जा सकता कि ऐसे और कितने छंद परिशिष्ट रूपसे प्रतिके अंतमें लिख दिए गए थे; किंतु अनुमानतः ऐसे एकाध छंद और रहे होंगे। ये छंद संभवतः प्रतिलिपि करते समय छूट गए रहे होंगे। ऊपरके अंतिम छंदका जो अंश प्राप्त है, उससे यह स्पष्ट है कि वह 'कवितावली' (ना० प्र० सभा संस्करण) के उत्तरकांडका १२७वाँ छंद है।

'कवितावली' की अन्य प्रतियोंके साथ ऊपरकी प्रतिका मिलान करनेपर यद्यपि ग्रंथके अन्य अंशोंमें विशेष अंतर नहीं मिलता, तथापि उत्तरकांडके अंतिम अंश और 'बाहुक' में ध्यान देने योग्य अंतर दिखाई पड़ता है। नीचे इसी अंतर को स्पष्ट करनेके लिए, विषयोंके अनुसार अंतिम छंदोंके समूहीकरणमें, उन छंदोंको कोष्ठकोंके भीतर रक्खा गया है जो उपर्युक्त प्रतिमें भी मिलते हैं, और जो छंद उपर्युक्त प्रतिमें नहीं मिलते उन्हें बिना कोष्ठकोंके लिखा गया है। इन पिछले प्रकारके छंदोंको हम 'अतिरिक्त छंद' कहेंगे। समूहीकरण नीचे दिया जाता है—

१. काशीमें कलिका उत्पात—'कवितावली', उत्तर० (१६९), (१७०), (१७१), १७७, १८१ और १८२।

२. काशीमें दरिद्रता, बेकारी और डाके आदि—'कवितावली', उत्तर० (९७) और १७६।

३. बाहुपीड़ा—'कवितावली', उत्तर० (१६६), (१६७) और (१६८); और 'बाहुक', (१-४), ६-१७, (१८,१९), २०-२२, (२३-३०), ३१, (३२), ३३,३६ और (३७)।

४ काशीमें महामारी—'कवितावली', उत्तर० १७३, १७४, १७५ और १७६।

५ कलिके उपद्रव, दरिद्रता और महामारीकी शान्ति—'कवितावली', उत्तर० १८३।

६ बाहुपीड़ाके फिर शरीर भरमें पीड़ा और बरतोर आदि—'बाहुक', ३८-४४।

७. महाप्रयाण—'कवितावली', उत्तर० १८०।

इस वर्गीकरणमें यह ध्यान देने योग्य है कि सातमें ले अंतिम चार विषयोंका एक भी छन्द १८२० वि० की प्रतिमें नहीं मिलता, जिससे यह स्पष्ट है कि उसमें हमें वे ही छन्द मिलते हैं, जिनकी रचना काशीकी महामारीसे पूर्व हो चुकी थी।

ऊपरकी घटनाओंमें से पहली, दूसरी और चौथी एक दूसरीसे कुछ मिलती हुई घटी थीं, यह कविके दो छन्दोंसे अत्यंत स्पष्ट है। वे दोनों छन्द इसप्रकार हैं—

निपट बसेरे अघ औगुन घनेरे नर
नारिऊ अनेरे जगदंब चेरी चेरे हैं।
दारिदी दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरु
लोभ मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं॥
लोकरीति राखी राम साखी बामदेव जान
जनकी बिनति मानि मातु कहि मेरे हैं।
महामारी महेसानि महिमाकी खानि
मोद मंगलकी रासि दास कासीबासी तेरे हैं॥[1]

आस्रम बरन कलि बिबस बिकल भय
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोष महामारि ही तें जानियत
साहिब सरोष दुनी दिन दिन दारिदी॥

[1] 'कवितावली', उत्तर० १७४

नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोउ
काहू देवननि मिलि मोटी मूठ मार दी।
तुलसी सभीत पाल सुमिरे कृपालु राम
समय सुकरुना सराहि सनकारि दी॥[१]

इन तीन घटनाओंमें से कलिके उत्पातोंके संबंधमें ऐतिहासिक साक्ष्य मिलना असंभव है, यह स्वतः स्पष्ट है, किंतु शेष दोके संबंधमें हमें सम्राट् जहाँगीर के शब्दोंमें एक बड़ा सुंदर ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है, और वह इसप्रकार है—

"मेरी बादशाहतके ग्यारहवें सालका नौरोज़ रबीउलअव्वल १, सन् १०२५ हिजरी (१० मार्च, १६१६ ई०) को पड़ता है।

"इस सालमें या कुछ कुछ दसवें सालमें ही एक खौफ़नाक वबा हिंदुस्तानके कई हिस्सोंमें यकायक ज़ाहिर हुई। पहले यह पंजाबके एक ज़िलेमें ज़ाहिर हुई, और धीरे धीरे लाहौर तक पहुँच गई। इसने बहुतेरे मुसलमानों और हिंदुओंकी जान ली। यह सरहिंद और दोआबमें होती हुई देहली और उसके नज़दीकी इलाक़ोंमें फैल गई, और उन इलाक़ोंको बरबाद कर दिया। अब यह बिलकुल शांत है। बुड्ढे लोग कहते हैं और पुरानी तवारीख़ोंने भी यह ज़ाहिर है कि यह बीमारी इस मुल्कमें पहले और कभी नहीं आई थी। मैंने हकीमों और आलिमोंसे इस बीमारीका सबब पूछा। चूँकि दो सालतक लगातार मुल्कमें कहत पड़ा था और पानी कम बरसा था, कुछने कहा कि यह बीमारी सूखे और क़हतके सबबसे खराब हुई हवाकी वजहसे थी, और कुछ दूसरे लोगोंने दूसरी वजहें बताईं। यह सब खुदा ही जानता है, और हम लोगोंको सबके साथ उसके इरादेको मानना चाहिए।"[२]

जहाँगीरके सबसे विश्वासपात्र इतिहास लेखक मोतमिद खाँने इस वबाका एक यथातथ्य परिचय देते हुए अंतमें लिखा है—

"हिंदुस्तानमें कोई भी मुक़ाम इस बीमारीसे बचा नहीं, यह लगातार आठ सालतक मुल्कमें बनी रही (अर्थात् १६१६ से १६२४ ई० तक)।"[३]

काशीमें इसके फैलनेका कोई निश्चित समय किसी इतिहास लेखकने नहीं दिया है। आगरेमें यह १६१८ ई० में प्रकट हुई, और १६१९ ई० के वसंतमें भी बनी रही, क्योंकि आगरेकी सूचनाके आधारपर लिखे हुए सूरतके १२ और १३ मार्चके पत्र मिले हैं, जिनमें इसके भयंकर रूप धारण करनेका उल्लेख हुआ

[१] 'कवितावली', उत्तर० १८३
[२] 'वाक़यात जहाँगीरी' इलियट (६), पृ० ३४६
[३] 'इक़बालनामा', ईलियट (६) पृ० ४०५

है, और इसी समयकी आगरेसे दिली भेजी हुई रिपोर्टोंमें भी मनुष्योंके प्रतिदिन मरनेका उल्लेख हुआ है। फलतः जिस गतिसे यह पूर्वकी ओर बढ़ रही थी उसके आधार पर यह अनुमान करना कदाचित् अनुचित न होगा कि काशीमें यह सन् १६२१ या १६२२ ई० के अंतिम महीनोंमें प्रकट हुई होगी और सन् १६२२ या १६२३ ई० के प्रारंभिक दो-तीन महीनोंतक चली रही होगी।

कलि और दरिद्रताके उपद्रव महामारीके शांत होनेके पूर्व ही शांत हो गए थे, यह ऊपर उद्धृत किए हुए दो छंदोंमें से प्रथमसे स्वतः स्पष्ट है। पीछे महामारीका उपद्रव भी शांत हो गया था, यह दूसरे उद्धृत छंदसे स्पष्ट है। किंतु, ऐसा ज्ञान पड़ता है कि बाहुपीड़ा चली रही—यह महामारीके पूर्वसे ही थी, और उसके पीछेतक चली रही। इसकी शांतिका कविके किसी छंदमें स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, उलटे 'बाहुक'के उन छंदोंमें जो उपर्युक्त प्रति में नहीं मिलते, उसके बढ़ने का उल्लेख है।

इन 'अतिरिक्त' छंदोंमें से एकमें वर्षाकी ओर संकेत करते हुए हनुमानसे कहा गया है कि जिसप्रकार जवासेकी झाड़ वर्षाका जल पड़ते ही जल जाती है उसीप्रकार वे उस कठिन पीड़ाका अंत कर दें।[1] दूसरे दो 'अतिरिक्त' छंदोंमें उस पीड़ाके पाँव, पेट, मुंह और समस्त शरीर में फैल जानेका उल्लेख हुआ है।[2] एक अन्य 'अतिरिक्त' छंदमें पश्चात्ताप करते हुए कहा गया है कि प्रतिष्ठा पानेपर रामराय की ओरसे कृतघ्नता करके उनका भजन छोड़ देनेका ही यह परिणाम हुआ है कि शरीरसे घोर बरतोरके रूप में फूट-फूट कर उन स्वामीका नमक निकल रहा है।[3] एक अन्य 'अतिरिक्त' छंदमें कवि कहता है कि उसके हृदयमें हर और हरिके लिए भी मान नहीं है, यदि कोई भी उसकी दुःसह पीड़ाका अंत कर सकता है तो वह राम है।[4] और, एक अन्य 'अतिरिक्त' छंदमें जो 'बाहुक'की समाप्तिका छंद है, वह कदाचित् अंतिम बार हनुमान, रामराय तथा शंकरसे प्रार्थना करके बैठ जाता है। यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है कि उसकी प्रार्थना सुनी गई या नहीं, और, न यही कहा जा सकता है कि उसके कितने दिनों पीछे 'कवितावली' के एक 'अतिरिक्त' छंदमें[5] महाप्रयाणके समयका क्षेमकरीके शुभ-दर्शनका उल्लेख करते हुए वह अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है।

---

१ 'बाहुक', ३५
२ वही, ३८ और ३९
३ वही, ४१
४ वही, ४२
५ 'कवितावली', उत्तर० १८०

'मूल गोसाईंचरित' की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार

'मूल गोसाईंचरित' में जिन प्रमुख साहित्यिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों के संबंधमें उल्लेख आए हैं वे इसप्रकार हैं :—

साहित्यिक—हितहरिवंश, सूरदास, गोकुलनाथ, मीराँबाई, रसखान, केशवदास, नाभादास, नंददास, मलूकदास तथा गंग।

ऐतिहासिक—उदयसिंह, दिल्लीपति, टोडर ज़मीनदार, रहीम, जहाँगीर तथा बीरबल।

प्रस्तुत निबंधमें साहित्यिक व्यक्तियोंमेंसे अंतिम दो तथा ऐतिहासिक व्यक्तियोंमेंसे अंतिम, अर्थात् मलूकदास, गंग तथा बीरबलको छोड़कर सबपर विचार किया गया है।

मलूकदासका उल्लेख 'मूल गोसाईंचरित' में इस प्रकार आता है—

दोहा—देवमुरारी भेंट मिलि, सहित मलूकादास।
पहुँचे काशी में ऋषय, किये अखंड निवास ॥ ८३ ॥

और यह घटना उक्त ग्रंथके अनुसार १६५१-५२ वि०की ज्ञात होती है। बालक विनायकरावजीने देवमुरारीको मलूकदासका गुरु माना है[1] यद्यपि यह उक्त उद्धरणसे स्पष्ट नहीं होता। किंतु, साहित्यके इतिहासोंसे भी इस विषयपर प्रकाश नहीं पड़ता। मलूकदासका जन्म १६३१ वि०में हुआ था,[2] और इससमय उनकी अवस्था अधिकसे अधिक २१ वर्षकी रही होगी, अतएव, यदि वे देवमुरारीके शिष्य रहे हों तभी गोस्वामीजी ऐसे १०० वर्षके वृद्ध महात्माका[3] उनसे भी भेंट कर लेना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। किंतु, इस विषयपर दृढतापूर्वक कुछ न कहे जा सकनेके कारण प्रस्तुत निबंधमें विचार नहीं किया गया है।

इसीप्रकार, गंगकी मृत्यु १६६६ या १६७० वि०में होनेका उल्लेख 'मूल गोसाईंचरित' (दो० ९१, ९२) में होता है, और उसमें यह भी लिखा

[1] 'श्रीमद्गोस्वामिचरितम्', पृ० ३६

[2] रामचन्द्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्यका इतिहास' पृ० ९०

[3] क्योंकि 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार गोस्वामीजीका जन्म सं० १५५४ में हुआ था। (मू० गो० च० दो० २)

है कि गोस्वामीजीको दुर्वचन कहनेके कारण [illegible] उसे एक हाथीने मार डाला। किन्तु गंगकी मृत्युका निश्चित समय न ज्ञात हो सकनेके कारण इस विषयमें ठीक कहा नहीं जा सकता; आगे यह गोस्वामीजीको दुर्वचन कहनेके कारण उसकी ऐसी दुर्गति हुई यह उल्लेख भी कहीं अन्यत्र नहीं आया है।

बीरबलके विषयमें 'मूल गोसाइँचरित' में इसप्रकारका उल्लेख है—

> बिरबल सो कहना कहा, जो यह बात निकाम।
> बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, सुनि सिय रोम प्रनाम॥ ९८॥

यह घटना १६७० वि० की समाप्तिपर जहाँगीरके शासनपर हुई है और बीरबल १५८६ ई० (१६४२ वि०) में ही वीरगतिको प्राप्त हो चुके थे।[1] फिर भी, उपर्युक्त उल्लेखमें उनके जीवित रहनेका आशय स्पष्ट न हो सकनेके कारण उसपर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता।

यहाँपर विचार करनेमें 'मूल गोसाइँचरित' के उल्लेखोंका क्रम रक्खा गया है।

हितहरिवंश

बेणीमाधवदास हितहरिवंशजीके विषयमें इसप्रकार उल्लेख करते हैं—

> वृंदावन ते हरिवंस हितू। प्रियदास नवल निज सिष्य सुतू॥
> पठये लिख आइ जोहार किये। गुरदत्त सुपोथि सप्रेम दिये॥
> जमुनाष्टक राधासुधानिधि जू। अरु राधिकातंत्र महा विधि जू॥
> अरु पाति दइ हित हाथ लिखी। सोरह सै नव जन्माष्टमि की॥
> तहि माहि लिखी बिनती बहुरी। सोइ बात सुसागर सो कहुरी॥
> रचना महारासि की आवत जू। तिन मोर सदय ललचावत जू॥
> रसिकै रस मो तनु त्याग चही। मोहि आशिष देहु कुंज लही॥
> सोरठा—सुनि बिनती सुखनाथ, एवमस्तु इति भाषऊ।
> तनु तजि भये सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेस करि॥ ८॥

अतः यह स्पष्ट है कि 'मूल गोसाइँचरित' के अनुसार—

(क) हितहरिवंशजीने १६०९ वि० के पूर्व ही 'यमुनाष्टक', 'राधासुधानिधि', तथा 'राधिकातन्त्र'की रचना समाप्त की थी। और

(ख) उन्होंने १६०९ वि० की महारास-रजनी अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमाको शरीरत्याग किया।

---

[1] 'हिंदुस्तानी', जनवरी १९३१ ई०, पृ० १५

प्रयोगके विषयमें ठीक तिथियोंका अनुसंधान कदाचित् अभीतक नहीं हुआ है, किंतु 'हितजीका रचनाकाल १६०० से १६४० वि० तक माना जाता है।'[1]

हितजीकी मृत्युके निश्चित सन्के विषयमें चाहे कोई मतभेद हो किंतु इतना निश्चित है कि उनका देहांत १६०६ वि०में नहीं हुआ क्योंकि 'ओरछानरेश महाराज मधुकरसाहके राजगुरु श्रीहरिराम व्यासजी १६२२ वि० के लगभग आपके शिष्य हुए थे।'[2]

सूरदास तथा गोकुलनाथ

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै सोरह लगे, कामद गिरि ढिग बास।
सुभ एकांत प्रदेश महँ, आये सूर सुदास॥ २९॥
पठये गोकुलनाथ जी, कृष्ण रंग में बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन गोसाईं छोरि॥ ३०॥

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नटनागर को॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पद पंकज पै सिर नाय रहे॥
अस आसिस देइय स्याम ढरैं। यहि कीरति मोरि दिगंत चरैं॥
सुनि कोमल बैन मृदादि हिये। पद पोथि उठाइ लगाइ हिये॥
कहे स्याम सदा रस चाखत हैं। रचि सेवक की हरि राखत हैं॥
तनिको नहिं संशय है यहि मां। श्रुति गावत बखानत है महिमा॥
दिन सात रहे सतसंग पगे। पद कंज गहे जब जान लगे॥
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध दिये। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये॥ ३१॥

अतएव, 'मूल गोसाईंचरित'के अनुसार सूरदास गोस्वामीजीके पास १६१६ वि०में आए। अभीतक सूरदासकी मृत्युकी तिथि निश्चित नहीं हो सकी है, किंतु अनुमान यही किया जाता है कि उनका देहांत १६१७ वि० और १६२० वि० के बीच या कुछ ही पीछे हुआ होगा। उनके जन्म समयका जो अनुमान विद्वान् करते आए हैं[3] उसके अनुसार १६१६ वि० में सूरदासकी

[1] रामचन्द्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्यका इतिहास,' पृ० १७७
[2] वही, पृ० १७८
[3] वही, पृ० १५५

अवस्था लगभग ७६ वर्षकी रही होगी, और तुलसीदासजीकी वेणीमाधवदासके अनुसार भी ६२ से अधिककी न रही होगी, क्योंकि वे गोस्वामीजीका जन्म १५५४ वि० में हुआ कहते हैं[1], अतएव, ऊपर का विवरण सूरदास ऐसे वृद्ध महात्माके संबंध में कम प्रामाणिक जँचता है। थोड़ी देरके लिए यदि हम यह मान भी लें कि तुलसीदास और सूरदासकी भेंट हुई थी फिरभी यह नहीं माना जा सकता कि १६१६ वि० में उन्हें गोकुलनाथजीने कृष्ण-रंगमें डुबोकर भेजा होगा। यहींतक नहीं, वेणीमाधवदासका कहना है कि गोस्वामीजीने सूरदासके हाथ उनके नाम एक पत्र भी दिया। गोकुलनाथका समय १६०८ वि० से १६९८ वि० तक म जाता है। अतएव, यह नितांत असंभव प्रतीत होता है कि उन्होंने सूरदासको कृष्णरंगमें डुबोकर गोस्वामीजीके पास भेजा होगा, और गोस्वामीजीने भी उनके नाम पत्र दिया होगा।

मीराँबाई और उनका पत्र

वेणीमाधवदास लिखते हैं —

लै पाति गए जब सूर बका। उर में पधराय कै स्याम छबी।
दोहा—तब आयो मेवाड़ ते, बिप्र नाम सुखपाल।
मीराबाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल ॥ ३१ ॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय बिप्र पठाय ॥ ३२ ॥

जिससे यह ज्ञात होता है कि मीराँबाईने १६१६ वि० में गोस्वामीजीको पत्र भेजा था। इस पत्रके विषयमें विचार करनेके लिए मीराँबाईके दोनों कुलोंके इतिहाससे कुछ परिचित होना पड़ेगा। इसलिए पहले दोनों राजवंशों का उपयोगी विस्तार नीचे दिया जाता है।

मेड़ता राजवंश
राव दूदाजी
१ वीरमजी — जयमल
२
३
४ रत्नसिंह — मीराँ

मेवाड़ राजवंश
राणा साँगा
भोजराज
कर्ण
रत्नसिंह
विक्रमाजीत
उदयसिंह

[1] 'मूल गोसाईंचरित', दो० २
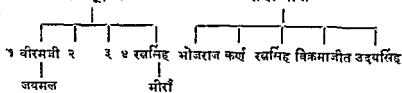
मीरॉंके पितृकुल तथा श्वसुरकुलका संबंध १५७३ वि० में कुँवर भोजराजके साथ मीरॉंका विवाह होनेपर स्थापित हुआ।[1] भोजराजकी मृत्यु १५८३ वि० के पूर्व ही होचुकी थी। १५८५ वि०में राणा साँगाकी भी मृत्यु होगई। उनकी मृत्यु के पीछे दो वर्षोंमें दो राजकुमार कर्ण तथा रत्नसिंह गद्दीपर बैठे, और फिर १५८७ वि० में विक्रमाजीत गद्दी पर बैठे। वे १५६४ वि० तक उसपर स्थित रहे, जब बनवीरने उनसे गद्दी छीन ली। विक्रमाजीत ही वे राणा थे जो मीरॉंको कष्ट देते थे। यतएव, यदि मीरॉंने गोस्वामीजीको अपने पीड़ित होनेका कोई पत्र लिखा होगा तो वह १५८७ वि० से १५६४ वि० के बीच होगा, न कि उससे २२ वर्ष पीछे। राजस्थानके इतिहासकार तो १६०३ वि० में ही मीरॉंकी मृत्यु भी मानते हैं। इस दशामें मीरॉंबाईने १६१६ वि० में गोस्वामीजीको पत्र लिखा होगा यह असंभव ज्ञात होता है।

रसखान

वेणीमाधवदास लिखते हैं कि १६३३ वि० के मार्गशीर्षमें जब 'मानस' अयोध्यामें समाप्त हुआ तो सबसे पहले उसे वहाँ मिथिलाके रूपारुण स्वामीने सुना[2], उनके पीछे संडीला-निवासी नंदलाल स्वामी[3] और रसखानने —

> स्वामि नंद सुलाल को सिष्य पुनी। तिसु नाम दयाल सुदास गुनी॥
> लिखिकै स्वइ पोथी स्वठाम गयो। गुरुके ढिग जाय सुनाय दयो॥
> यमुना तटपै त्रय वत्सरलौं। रसखानहि जाइ सुनावत भो॥६६॥

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है १६३४-३७ वि० में रसखानने संडीलेके दयालदाससे यमुनातटपर 'मानस' सुना।

'२५२ वैष्णवन की वार्ता'में २१८वीं वार्ताका विषय है—

"गोसाइंजीके सेवक रसखान पठान दिल्लीमें रहेते हते तिनकी वार्ता।" उक्त वार्तामें यह लिखा है कि रसखान एक साहूकारके लड़के पर बुरी तरहसे मुग्ध थे। एकबार चार वैष्णव जारहे थे तो आपस में उन्होंने यह चर्चा की कि यदि कोई प्रेम करे तो रसखानकी भाँति। रसखानका ध्यान जब उनकी ओर आकर्षित हुआ तो उन्होंने रसखानको श्रीनाथजीका चित्र दिखाया जिससे रसखानका मन उस लड़केसे हटकर श्रीनाथजीमें लग गया। वे अब वृंदावन आए

---

[1] 'महिलामृदुवाणी,' पृ० ५९
[2] 'मूल गोसाईंचरित', दो० ६६
[3] वही, दो० २८

और गोसाईं विट्ठलनाथजीके सेवक हुए। 'इसके रसखानने अनेक कीर्तन और कवित्त और दोहा अनेक प्रकार के बनाए।'

रसखानने 'प्रेमवाटिका' की रचना १६७१ वि० में की।[1] 'विट्ठलनाथजीका मरण-काल १६४३ है तो इनका १६४० के लगभग उनका शिष्य होना जान पड़ता है। अतः इनका जन्म-काल १६१५ के लगभग समझते हैं।'[2] इस दशामें रसखानने १६२५-२७ वि० में 'मानस' सुना होगा—सो भी तीन वर्ष तक लगातार—विश्वासयोग्य नहीं ज्ञात होता। उस समय वे कदाचित् साहूकारके लड़केकी कथापर 'मानस' की राम-कथाकी अपेक्षा अधिक ध्यान देते रहे होंगे।

केशवदास तथा 'रामचंद्रिका'

वेणीमाधवदास लिखते हैं कि मीनकी सनीचरीके उतरते ही (मीनकी सनीचरीका अंत १६४२ वि०के ज्येष्ठमें हुआ था) काशीपुरीमें मरीका प्रकोप हुआ किंतु उसे गोसाईंजीने भगवानसे विनय करके भगा दिया।[3] मरीके पीछे ही केशवदास गोस्वामीजीके दर्शनार्थ आए और एक ही रात्रिमें उन्होंने 'रामचंद्रिका' ऐसे बड़े काव्यग्रंथ की रचना भी कर डाली—

> कवि केशवदास बड़े रसिया। घनश्याम सुकुल नभ के बसिया ॥
> कवि जानि के दर्शन हेतु गये। रहि बाहर सूचन भेजि दिये ॥
> सुनि कै जु गोसाईं कहे इतनो। कवि प्राकृत केशव आवन दो ॥
> फिरि गे झट केशव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कै ॥
> जब सेवक टेरेउ गे कहि कै। हौं भेटिहौं काल्हि विनय गहि कै ॥
> घनश्याम रहे कासीराम रहे। बलभद्र रहे बिसराम लहे ॥
> रचि राम सुचंद्रिका रातहि में। जुरे केशव जू असि घातहि में ॥ ५८ ॥

इसप्रकार, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार 'रामचंद्रिका' की रचना १६४२ वि० के लगभगकी है, किंतु यह नितांत अशुद्ध है, क्योंकि उक्त ग्रंथमें ही स्पष्ट शब्दोंमें लिखा हुआ है कि उसकी रचना १६५८ वि० में हुई। 'इस ग्रंथको केशवदासने सं० १६५८ वि० कार्तिक सुदी १२ बुधवारको समाप्त किया। इसे इंद्रजीतसिंहने बनवाया था'।[4] अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का उल्लेख इस विषयमें अत्यंत भ्रमपूर्ण जान पड़ता है।

---

[1] रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्यका इतिहास' पृ० १९३
[2] 'मिश्रबंधुविनोद,' पृ० ३३८ [सं० १९८३ संस्करण]
[3] 'मूल गोसाईंचरित,' दो० ५७
[4] 'हिंदी-नवरत्न,' पृ० ४६६

इसीप्रकार, वेणीमाधवदास आगे चलकर १६५०-५१ वि० के लगभग केशवदासके प्रेतका उल्लेख करते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार केशवका देहांत १६५१ वि० के पूर्व हो चुका होगा। वे लिखते हैं—

सोरठा—उद्धरे केशवदास, प्रेत हते धरे मुनिहिं।
उधरे तिनहिं प्रयास, चढ़ि विमान स्वर्गहिं गए ॥ १९ ॥

किंतु १६५१ वि० तक तो 'रामचंद्रिका'की भी रचना न होपाई थी, और इसमें संदेह नहीं कि यदि उस समय या उससे पूर्व ही केशवदासकी मृत्यु हो गई होती तो हिंदी-साहित्य को एक महाकवि और आचार्य खोना पड़ता। यह अवश्य है कि हमें केशवदासकी मृत्युकी निश्चित तिथिका यथार्थ ज्ञान नहीं है। फिर भी, वे १६५१ वि० के कमसे कम १८ या १९ वर्ष पीछेतक जीवित रहे यह निस्संदेह है, क्योंकि १६५८ वि० में उन्होंने 'कविप्रिया' तथा 'रामचंद्रिका', १६६४ वि० में 'वीरसिंहदेवचरित', १६६७ वि० में 'विज्ञानगीता' और १६६९ वि० में 'जहाँगीरजस चंद्रिका' नामक ग्रंथोंकी रचना की। अतएव, वेणीमाधवदासका यह केशवदासके प्रेत विषयक उल्लेख भी नितांत भ्रमपूर्ण है।

नाभादास

वेणीमाधवदासके अनुसार १६४९ वि० के मार्गशीर्षमें गोसाईंजी वृंदावन पहुँचे और वहाँ नाभाजीसे भेंट हुई। उसके पश्चात् वे मदनमोहनके दर्शनको उनके साथ गए—

दोहा—विप्रसुत नाभा सहित हरि दर्शन के हेत।
गए गोसाईं मुदित मन, मोहन मदन निकेत ॥ ७३ ॥
राम उपासक जानि प्रभु, तुरत धरे धनु बान।
दर्शन दिए सनाथ किय भक्त वछल भगवान ॥ ७४ ॥

यहाँपर नाभाजीको 'विप्रसुत' कहा गया है, किंतु नाभाजी डोम कहे जाते हैं। कुछ लोग डोमका आशय चमारी तथा कुछ मारवाड़ आदिकी एक गायक जातिसे लेते हैं, किंतु उन्हें 'विप्रसुत' कदाचित् अन्य कोई नहीं कहता। इसके अतिरिक्त, ऊपर जिस कथाका वर्णन है '२५२ वैष्णवनकी वार्ता' में नंददासजीके साथ श्रीनाथजीका दर्शन करते हुए उसी कथाका उल्लेख हुआ है। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' के इस विवरणपर भी सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

नंददास

वेणीमाधवदासने १६४९-५० वि० में ही वृंदावनमें नंददासने भी तुलसीदासकी भेंट कराई है।[1] किंतु '२५२ वैष्णवनकी वार्ता' में नंददासकी वार्तामें यह भी लिखा है कि वे गोस्वामीजी को गोसाईं विट्ठलनाथजीके पास लिवा गए थे। गोसाईं विट्ठलनाथजीका देहांत १६४२ वि०में हुआ, फलतः नंददासने वृंदावनमें इससे भी पहले भेंट हुई होगी, न कि १६४९-५० वि० में। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी कदाचित् शुद्ध नहीं है।

यहाँतक हमने 'मूल गोसाईंचरित' के साहित्यिक व्यक्तियों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओंके उल्लेखोंपर विचार किया है। आगे हम उसमें आनेवाले ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओंपर विचार करेंगे।

उदयसिंह और शाही सभाओंमें उनका सम्मान

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—जेहि दिन साहि समाज में, उदय लह्यो सम्मान।
तेहि दिन पहुँचे अवध में, श्री गोसाईं भगवान ॥ ३७ ॥
जुग वत्सर बीते न कृति रच्यो।
इकतीस सो संवत आन लग्यो ॥ ३८ ॥

जिससे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उदयसिंहको १६२९ वि० में शाही सभाओंमें सम्मान मिला होगा। किंतु इतिहास-लेखकोंका मत है कि सम्मान न उदयसिंहको मिला और न प्रतापसिंहको ही, वह अमरसिंह तथा कर्णको मिला, और वह भी जहाँगीरद्वारा प्रतापसिंहकी मृत्युके अनंतर। इसके अतिरिक्त, २३ फरवरी १५६८ ई० को अकबरने चित्तौरगढ़पर विजय पाई और इसके चार ही वर्ष पीछे[2] अर्थात् १६२८ वि० में उदयसिंहकी मृत्यु होगई। तब उन्हें १६२९ वि० में शाही सभाओंमें किस भाँति सम्मान मिला होगा यह समझना कठिन है।

दिल्लीपति से भेंट

वेणीमाधवदास ने १६३१ वि० के लगभग गोस्वामीजीकी दिल्लीपतिसे भेंट लिखी है। बादशाहके बुलानेपर गोस्वामीजी दिल्लीके लिए चल पड़े। मार्ग में केशवदासका वह प्रेत मिला, जिसका ऊपर उल्लेख किया जाचुका है।

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित', दो० ७५
[2] स्मिथ, 'अकबर दि ग्रेट मोगल,' पृ० ८८ तथा ९२

गोस्वामीजीने इसी बीच एक स्त्रीको 'मानस' के नवाह्निक पाठसे पुरुष बना दिया और दिल्ली पहुँचे।[1] दिल्ली में भी बड़ा कौतुक हुआ—

दोहा—दिल्लीपति विनती करी, दिखरावहु करमात।
मुकरि गये बंदी किए, कीन्हे कपि उतपात ॥ ८० ॥
बेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब बाम।
हाहाकार महल मच्यो, पटको नृपहिं धड़ाम ॥ ८१ ॥
मुनिहिं मुक्त तत्छन किए, छमापराध कराय।
बिदा कीन्ह सन्मानजुत, पीनस पै चढ़राय ॥ ८२ ॥

इस प्रसंगमें दिल्लीपतिका आशय बालक विनायकरावजीने जहाँगीरसे लिया है और बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वालने भी यही लिया है।[2] किंतु यह इतिहासकी एक बहुत ही साधारण बात है कि जहाँगीर १६६२ वि० में गद्दीपर बैठा और १६५१ वि० में अकबर दिल्लीश्वर था। अकबरके समयका अधिकांश और प्रामाणिक इतिहास हमें उपलब्ध है किंतु कदाचित् कहीं भी उसमें ऐसी किसी घटना की ओर संकेत भी नहीं मिलता। अतः यहाँ भी 'मूल गोसाईंचरित' का उल्लेख भ्रमपूर्ण ज्ञात होता है।

टोडरके उत्तराधिकारी

बेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयू पाइ कै, टोडर तजै सरीर ॥ ८७ ॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
जुग सुत टोडर बीच मुनि, बाँट दिये घरबार ॥ ८९ ॥

जिससे यह स्पष्ट आशय निकलता है कि टोडरके घरबारका बँटवारा उनके दो लड़कोंके बीच हुआ।

वह पंचनामा जिसमें बँटवारा सविस्तर अंकित किया गया था सौभाग्यवश अबतक है, किंतु उसमें दोनों पक्षों का नाम इसप्रकार आया है—

"आनंदराम बिन टोडर, बिन देवराय, व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर—"

अर्थात्

देवराय
|
टोडर
|
आनंदराम — रामभद्र
|
कँधई
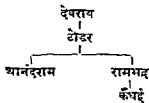
[1] 'मूल गोसाईंचरित,' दो० ७८, ७९
[2] 'गोस्वामी तुलसीदास,' पृ० १३५-३९

इसप्रकार यह नितांत स्पष्ट है कि बँटवारा आनंदराम और कँधईके बीच हुआ जो भाई-भाई नहीं वरन् चचा-भतीजे थे। आनंदराम टोडरका पुत्र अवश्य था किंतु कँधई टोडरका पौत्र था। अतएव, 'मूल गोसाइँचरित'का यह उल्लेख भी भ्रमपूर्ण है।

रहीम तथा उनके 'बरवै'की रचना

१६६६ वि० की घटनाओंका उल्लेख करते हुए बेनीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—कवि रहीम बरवै रचे, पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना किये प्रकास॥ ९३॥

जिससे यह ज्ञात होता है कि रहीमने 'बरवै' १६६६ वि० में रचकर गोसाईंजीके पास भेजा।

रहीमने बरवै छंदमें एक 'नायिकाभेद'की तथा कुछ स्फुट रचनाकी है किंतु अभीतक इन रचनाओंका समय नहीं निर्धारित हो सका है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इनकी रचना १६५१-५४ वि० के लगभग की गई होगी।

रहीमके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ष कदाचित् संवत् १६५७ है। १६५७ वि० के प्रसिद्ध अहमदनगरके पतनके साथ ही रहीमके भाग्यचक्रने भी पलटा खाया। यद्यपि विजय अधिकांशमें रहीमके प्रयत्नोंसे हुई कही जाती है, और कहा जाता है कि इन्होंने इसके उपलक्ष में ७५ लाख रुपए भी लुटा डाले, किंतु यश इन्हें न मिलकर राजकुमार मुरादको मिला। इन्हीं दिनों इनकी खीका भी देहांत हो गया। जहाँगीरके राज्यकालमें इन्हें और भी दुःख रहा। आँखोंके सामने ही दो जवान पुत्रोंने परमधामकी यात्रा की। अपनी पौत्रीसे शाहजहाँका विवाह करनेके कारण उत्तराधिकारके झगड़ों में इन्हें स्वभावतः भाग लेना पड़ा और फलतः नूरजहाँकी कूटनीतिका लक्ष्य भी बनना ही पड़ा। इसप्रकार हम देखते हैं कि रहीमके जीवनके अंतिम ३० वर्ष विपत्तियोंके थे—उनका देहांत १६८६ वि० में हुआ। ऐसी दशामें यह असंभव-सा ज्ञात होता है कि १६५७ वि० से लेकर १६८६ वि० के बीच किसी समय 'बरवै'की रचना हुई हो—'बरवै'की सरसता और भी इसीका समर्थन करती है। अतएव, 'मूल गोसाइँचरित' का यह उल्लेख भी कम भ्रमपूर्ण नहीं लगता।

जहाँगीर तथा उसका काशी-आगमन

बेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—जहाँगीर आयो तहाँ सत्तर सम्वत बीत।
धन धरती दावो चहै गहै न मुनि बिपरीत ॥ ९७ ॥

अर्थात् १६७० वि० की समाप्तिपर जहाँगीर काशी आया और उसने गोस्वामीजी-को धन-धरती देना चाहा, किंतु गोस्वामीजीने उसे अपने सिद्धांतके विपरीत समझकर ग्रहण नहीं किया।

जहाँगीरने अपना जीवनवृत्त स्वयं 'तुज़ुक जहाँगीरी' नामसे लिखा है, उसमें कहीं इस घटनाकी ओर संकेत भी नहीं है। 'स्वयं जहाँगीरके लेख से मालूम होता है कि वह १६६६ वि० से १६७३ वि० तक पूर्वकी ओर आया ही नहीं।'[१] अतएव, ऐसी दशा में 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी अशुद्ध ज्ञात होता है।

ऊपर हमने 'मूल गोसाईंचरित में आनेवाले लगभग सभी प्रमुख साहित्यिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओंपर एक ऐतिहासिकके दृष्टि-कोणसे विचार करनेका प्रयत्न किया है। किंतु हमने लगभग प्रत्येक स्थलपर देखा है कि उसके उल्लेख भ्रम-पूर्ण हैं। ऐसी दशामें उसमें कितनी ऐतिहासिकता होगी इसका अनुमान सहजमें किया जा सकता है।

[१] श्यामसुंदरदास तथा पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, 'गोस्वामी तुलसीदास,' पृ० ११८

गोस्वामी तुलसीदासकी रचनाओंका कालक्रम

गोस्वामी तुलसीदासकी रचनाओंका पठन-पाठन इस समय हिंदी-साहित्यके अध्ययनका एक सर्वप्रधान अंग हो रहा है। इधर लगभग चार दशाब्दियोंमें इनके विषयमें विद्वानोंने बहुत कुछ लिखा भी है, किंतु आजसे कुछ वर्ष पूर्वतक इनपर सविस्तर विचार प्रस्तुत करनेवाले चार ही प्रमुख ग्रंथ थे—

(क) नोट्स ऑन् तुलसीदास,[1]

(ख) श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी,[2]

(ग) हिंदी नवरत्न,[3] तथा

(घ) तुलसी-ग्रंथावली।[4]

इनमेंसे प्रत्येकमें यद्यपि गोस्वामीजीकी रचनाओंका अलग-अलग नामोल्लेख करते हुए सभीके विषयमें कुछ-न-कुछ लिखा गया है, फिर भी बहुत कुछ वह परिचयात्मक ढंगका ही है। किंतु, इस शैलीके विवेचनकी एक दूसरी और कदाचित् सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उससे कविकी प्रतिभाकी प्रगतिका यथार्थ बोध नहीं होता। यह तो तभी संभव है जब हम उसकी समस्त कृतियोंका रचना-क्रम निर्धारित करलें और तदनंतर उनपर समष्टि-रूपसे विचार करें।

कुछ वर्ष हुए नवलकिशोर प्रेसने 'रामचरितमानस'के एक संस्करणके साथ किन्हीं वेणीमाधवदासका लिखा हुआ 'मूल गोसाईंचरित'-नामक ग्रंथ प्रकाशित किया।[5] संक्षेपमें गोस्वामीजीका जीवनवृत्त देते हुए उक्त 'चरित' में गोस्वामीजीकी रचनाओंका भी यत्र-तत्र निर्देश कर दिया गया है और साथ ही दो-एकको छोड़ उन सबके निर्माणकी तिथिका भी उल्लेख किया गया है। कुछ

[1] सर जार्ज ग्रियर्सन लिखित, पहले 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', सन् १८९३ ई० में प्रकाशित, पीछे पुस्तकाकार सन् १९२१ ई० में प्रयागसे प्रकाशित।

[2] शिवनंदनसहाय लिखित, सन् १९१६ ई० में प्रकाशित।

[3] मिश्रबंधु लिखित, प्रस्तुत संस्करण सं० १९८५ वि०।

[4] पंडित रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित, सं० १९८० वि० में प्रकाशित।

[5] नवलकिशोर प्रेस लखनऊसे १९२५ ई० में प्रकाशित।

ही दिन हुए बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्रीपीतांबरदत्त बड़थ्वालने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक एक ग्रंथ प्रकाशित किया है[1], और इसमें उन्होंने 'मूल गोसाईंचरित' में दी हुई लगभग कुल रचना-तिथियोंको शुद्ध मानते हुए गोस्वामीजीकी कृतियोंपर अलग-अलग संक्षेपमें विचार किया है। जिन दो-एक स्थलोंपर वे मतभेद रखते हैं, उनके संबंधमें यथास्थान आगे विचार किया जायगा। यहाँ हम अभी संक्षेपमें 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार रचनाओंके काल-क्रमपर विचार करेंगे। वह इसप्रकार है—

गीतावली कृष्णगीतावली	सं० १६१६ से १६२८ तक
रामचरितमानस	सं० १६३१ से १६३३ तक
विनयपत्रिका	सं० १६३९
दोहावली	सं० १६४०
सतसई	सं० १६४२
बरवै	सं० १६६९-७०
नहछू	,, ,, ,,
जानकीमंगल	,, ,, ,,
पार्वतीमंगल	,, ,, ,,
बाहुक	,, ,, ,,
वैराग्यसंदीपिनी	,, ,, ,,
रामाज्ञा	,, ,, ,,

विभिन्न ग्रंथोंके रचनाकालके विषयमें जो संदेह उपर्युक्त तालिकाके देखनेसे होता है उसका उल्लेख इसी निबंधमें आगे यथास्थान होगा। अतः उपर्युक्त समस्त-क्रमके विषयमें ही अभी हम दो-एक मोटी शंकाएँ उपस्थित करेंगे :—

(क) 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार गोस्वामीजीका कविता-काल सं० १६१६ से प्रारंभ होता है और उसका अंत सं० १६६९-७० में होता है इस प्रकार वह कुल ५३ या ५४ वर्षका होता है। किंतु, बीचमें सं० १६४२ से सं० १६६९ तक अर्थात् एक-साथ २७ वर्षतक क्या गोस्वामीजीकी सरस्वती मूक थी ?

(ख) उनकी लगभग सभी प्रौढ़ रचनाएँ, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार, सं० १६४२ तक अर्थात् कविता-कालके पूर्वार्द्धमें ही लिखी जाचुकी थीं, और

[1] हिंदुस्तानी एकेडेमी यू० पी० से १९३१ ई० में प्रकाशित।

लगभग सभी प्रौढ़ रचनाएँ, जो उनके आगे बाल-प्रयास-सी लगती हैं, उत्तरार्द्धमें लिखी गईं, क्या यह भी विश्वास-योग्य है ?

(ग) 'नहछू' तथा 'जानकीमंगल', 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार ११५ वर्षकी अवस्थामें लिखे गए—वेणीमाधवदासने गोस्वामीजीका जन्म सं० १५५४ में माना है।[1] इतने बड़े महात्माने जैसे गोस्वामीजी थे इतनी जरा-जर्जर अवस्थामें भी ऐसी शृंगारपूर्ण रचनाओंका निर्माण किया होगा, क्या इसे मान लेनेमें हमें विशेष संकोच न होना चाहिए ? और

(घ) 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार गोस्वामीजीने ११५ वर्षकी अवस्था होजाने पर सं० १६६९-७० में, और लगातार २७ वर्ष चुपचाप रहनेके उपरान्त, अधिकसे अधिक एक वर्ष और ढाई मासमें[2] सात ग्रंथोंकी रचनाकी होगी, क्या इस पर भी हमें विश्वास कर लेना चाहिए ?

अस्तु, रचनाओंका जो काल-क्रम प्रस्तुत लेखक निर्धारित कर सका है वह इस प्रकार है—

---

१ 'मूल गोसाईंचरित', दो० २

२ 'मूल गोसाईंचरित' में सं० १६६९-७० का जो कार्य विवरण दिया है वह सुविधाके लिए नीचे दिया जाता है—

सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयू पाइ कै, टोडर तजे सरीर ॥ ८७ ॥
पाच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि, बाँटि दिये घर बार ॥ ८९ ॥
नवशिवकला आशुकवि, ओपतसिंह कनगोय।
आयो मुनि दर्शन कियो, त्यागेउ तनु हरि जोय ॥ ९० ॥
गंग कहेउ हाथी चवन, माला जपेउ सुजान।
कठमलिया वंचक भगत, यहि सो गयो रिसान ॥ ९१ ॥
छमा किये नहिं शाप दिय, रँगे शान्तिरस रंग।
मारग में हाथी कियो, झपटि गंग तनु भंग ॥ ९२ ॥
कवि रहीम बरवै रचे, पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना कियेउ प्रकास ॥ ९३ ॥
मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय।
पुनि प्राचे संचित किये, सुख पावैं सब कोय ॥ ९४ ॥
बाहुपीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर।
पुनि विरागसंदीपनी, रामाज्ञा सकुनीर ॥ ९५ ॥
पूर्वरचित लघु ग्रंथ गनि, दुहराये मुनि धीर।
लिखवाये सब आन ते, भौ अति छीन सरीर ॥ ९६ ॥

(१) पूर्व	रामललानहछू	सं० १६११ के लगभग (?)
	जानकीमंगल	सं० १६२१ ,, ,, ,,
	रामाज्ञा	सं० १६२३ ,, ,, ,,
	वैराग्यसंदीपिनी	सं० १६२५ ,, ,, ,,
(२) मध्य	रामचरितमानस	सं० १६३१
	सतसई	सं० १६४२
	पार्वतीमंगल	सं० १६४३
	गीतावली	सं० १६४४-४८ के लगभग (?)
	कृष्णगीतावली	सं० १६४६-५० ,, ,, ,,
(३) उत्तर	विनयपत्रिका	सं० १६५६-६१ ,, ,, ,,
	बरवै	सं० १६६२-६४ ,, ,, ,,
	दोहावली	सं० १६६५-८० ,, ,, ,,
	बाहुक	सं० ,, ,, ,, ,, ,,
	कवितावली	सं० ,, ,, ,, ,, ,,

जहाँगीर आयो तहाँ, सत्तर सवत बीत।
धन धरती दीयो नहै, गहै न गुनि विपरीत ॥ ९७ ॥

संक्षेपमें क्रमशः गोस्वामीजीने—

(क) कुआर सुदी १३ स० १६६९ को टोडरके लड़कोंके बीच बँटवारा किया।
(ख) भीषमसिंह तथा गंगसे भेंट की।
(ग) 'बरवै' की रचना।
(घ) मिथिलाकी यात्रा की।
(ङ) 'नहछू', 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' की रचना की।
(च) बाहु पीड़ा होनेपर 'बाहुक' की रचना की।
(छ) 'वैराग्यसंदीपिनी' और 'रामाज्ञा' का निर्माण किया।
(ज) पूर्व रचित लघु ग्रंथोंको दुहराया। और
(झ) उन्हें दूसरोंसे लिखवाया।

जहाँगीर स० १६७० बीतनेपर आया। यदि जहाँगीरका आना स० १६७१ के चैत शुक्लमें माना जाय तो बँटवारेके पश्चात् उक्त समय तक एक वर्ष छः मास होते हैं। इनमें से १५ दिन भीषमसिंह और गंगसे भेंटके लिए, एक मास मिथिला-यात्राके लिए, १५ दिन 'बाहुक'-रचनासे पूर्व पीड़ाके लिए, एक मास ग्रंथोंके दुहरानेके लिए और एक मास भी दूसरोंसे उन्हें लिखवानेके लिए निकाल दिए जाएँ तो सात ग्रंथोंके प्रणयनके लिए शेष समय केवल एक वर्ष दो मासका बचता है। यदि कहींसे खींच-खाँचकर यह समय बढ़ाया भी जासके तो वह एक वर्ष ढाई माससे अधिक नहीं हो सकता।

ऊपर जो तिथियाँ दी हुई हैं वे नितांत निश्चित नहीं हैं, उनके देनेका अभिप्राय यह नहीं है कि वे निश्चय ही विभिन्न ग्रंथोंकी रचना तिथियाँ हैं, वरन् इतना ही कि वे कदाचित् सबसे अधिक संभव तिथियाँ हैं। उनमें से केवल 'रामचरितमानस', 'सतसई' तथा 'पार्वतीमंगल' की तिथियाँ ही नितांत निश्चित हैं। संभव है कि पर्याप्त और स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त होनेपर भविष्यमें इसीप्रकार और रचनाओं की भी सुनिश्चित तिथियोंका निर्देश किया जा सके, फिरभी लेखककी धारणा है कि उनमें और ऊपर दी हुई तिथियोंमें अधिक अंतर न होगा। किंतु, जो वस्तुत ध्यान देने योग्य है वह है ऊपर उपस्थित किया हुआ रचनाओंका काल क्रम। तिथियोंमें चाहे अंतर पड़े भी, किंतु लेखकका ध्यान है कि उपर्युक्त क्रममें अंतर पड़नेकी न्यूनातिन्यून संभावना है—कारण यह है कि इसकी नींव सुदृढ़ अंतर्साक्ष्य पर स्थित है।

ऊपर दिए हुए क्रममें संभव है शकाएँ बहुत सी उपस्थित की जा सकें, किंतु एक साधारण शका यह हो सकती है कि स० १६६४ के लगभगसे स० १६८० तकके समयमें कविने क्या किया। इसका एक समाधान तो यह है कि कवि अब वयोवृद्ध था, वह अपनी सुंदर कृतियोंको सहृदय-समाजमें सम्मानित देखकर कदाचित् सतुष्ट था और अब उसकी यह धारणा थी कि वह अपने जीवन का उद्देश्य भलीभाँति पूरा कर चुका है और आत्मा का दिव्य-सदेश पूर्ण रूपसे सबतक पहुँचा चुका है। अतएव, यह उसका विश्राम काल था। दूसरे, उसने कवि-कर्म त्याग नहीं दिया था—'कवितावली' के अधिकाशकी स्फुट-रचना इसी कालकी है। और, यद्यपि 'दोहावली' के अधिकतर दोहोंकी रचना इस समयसे पूर्वकी माननी चाहिए, फिर भी उसके एक पर्याप्त अशकी रचना इसी-कालकी है, यह निस्सदेह है। और, बाहुपीड़ासे व्यथित होनेपर तो कविने अपनी प्रतिभाका परिचय भी 'बाहुक की रचना द्वारा भलीभाँति दिया है—दारुण यत्रणाका जैसा यथातथ्य चित्र 'बाहुक' उपस्थित करता है, उसके लिए अलौकिक काव्य-क्षमता अपेक्षित थी। तीसरे, नवीन रचनाओंके करनेके अतिरिक्त कदाचित् यह भी आवश्यक था कि कवि अपने पूर्व-रचित ग्रंथोंको दुहराता, क्योंकि वह अब अतिम प्रयाण की तैयारी करने लगा था। 'विनयपत्रिका' के विषय में तो यह लगभग निश्चित ही है कि वह स० १६६६ के पीछे दुहराई गई होगी, कुछ अन्य ग्रंथोंके विषयमें भी यही अनुमान किया जा सकता है। काशीमें इस समय घोर उपद्रव भी मचा हुआ था अतएव, ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे अधिककी आशा एक जरा जजर व्यक्तिसे करना निरर्थक होगा।

किसी निर्धारित काल-क्रमकी शुद्धताकी परीक्षाका सब से उत्तम उपाय कदाचित् यह है, कि उसी क्रमसे रचनाओंकी प्रौढ़तापर अलग-अलग विचार करते हुए यह देखा जावे कि उसके अनुसार कविकी प्रतिभामें कोई विकासोन्मुख प्रगति परिलक्षित होती है या नहीं। प्रस्तुत निबंधके अंतिम अंशमें इसी दृष्टिकोणसे कविकी कुल रचनाओं पर एक व्यापक दृष्टि डाली जायगी, किंतु वह संक्षेपमें होगी क्योंकि प्रगतिकी एक अटूट धारणा निर्मित करनेमें विस्तार कदाचित् बाधक हो सकता है।

रामललानहछू

'रामललानहछू' में वर्णित नहछूके विषयमें अभीतक विद्वानोंके दो मत हैं—

(क) नहछू यज्ञोपवीतके अवसरका है और अयोध्यामें हुआ, और

(ख) नहछू विवाहके अवसरका है और मिथिलामें हुआ।

किंतु ये दोनों ही मत भ्रांति-पूर्ण हैं। तथ्य यह है कि 'रामललानहछू'का नहछू विवाहके अवसरका है और अयोध्यामें हुआ। 'रामललानहछू'में रामके लिए स्पष्ट 'दूलह' तथा 'वर' शब्दोंका प्रयोग हुआ है—

गोद लिए कौसल्या बैठी रामहिं बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो ॥ ९ ॥
आनँद हिय न समाइ देखि रामहिं बर हो ॥ १० ॥
दूलह कै महतारि देखि मन हरसइ हो ॥ १९ ॥

इसके अतिरिक्त, ग्रंथमें वर्णित लोकाचार 'मायन' भी विवाहका ही है—

बनि बनि आवत नारि जानि गृह मायन हो ॥ ५ ॥
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो ॥ ६ ॥
मोचिनि बदन सकोचिनि हीरा माँगनि हो।
पनहि लिहे वर सोभित सुंदर आँगन हो ॥
बतियाक सुघर मलिनिया सुंदर गातहि हो।
कनक रतन मनि मौर लिहे मुसुकातहि हो ॥ ७ ॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो ॥ ८ ॥
गावहि सब रनिवास देहि प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहि देखि महतारी हो ॥ १८ ॥

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह नितांत स्पष्ट हो जाता है कि विवाह-पूर्व 'मायन'का दिन है, दरजिन दूलहके लिए जोड़ा (जामा), मोचिन पनही तथा मालिन

गौर जाती हैं, भाटन रनिवासको तथा रनिवास राजको 'गारी' देते हैं। जिन्हें वैवाहिक लोकाचारों और यज्ञोपवीतकी रीतियोंका थोड़ा भी ज्ञान है—जिसकी लिए प्रत्येक पाठकसे आशा की जाती है—वे इस सम्बन्धमें तनिक भी संदेहमें नहीं पड़ सकते।

फिरभी प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी[1] *तथा सर जार्ज* ग्रियर्सन[2] आदि विद्वानोंको प्रथम मतका समर्थन यद्यपि इसलिए करना पड़ा है कि विवाहके अवसर पर राम पहिले ही से मिथिलामें थे। अन्य लेखकोंने दूसरे मतका समर्थन किया है, किंतु यह भी उतना ही भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि 'रामललानहछू' में *यह स्पष्ट कहा गया है, कि यह नहछू अयोध्यामें और दशरथ*के घर हुआ—

> कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथके गृह हो॥ १॥
>
> आजु अवधपुर आनँद नहछू रामक हो॥ १२॥

अतएव, उपर्युक्त दोनों ही मत ठीक नहीं हैं।

अभीतक राम-कथाके जो उद्गम-स्थान ज्ञात हैं उनमेंसे किसीसे भी यह ज्ञात नहीं होता कि राम धनुष तोड़नेके पीछे मिथिलासे अयोध्या आए, वहाँ वे किसी वैवाहिक लोकाचारमें सम्मिलित हुए, और तदुपरांत पुनः मिथिला जाकर उन्होंने विवाह किया। अतएव, इसे गोस्वामीजीकी एक बहुत बड़ी भूल माननी चाहिए—इतनी बड़ी जितनी उनकी ग्रंथावली भरमें अन्यत्र नहीं है। 'रामललानहछू' को गोसाईंजीकी कृति मान लेने मात्रसे यह अनिवार्य नहीं है *कि इतनी बड़ी और स्पष्ट भूलोंकी ओरसे आँख मूँद ली जाय।*

'*रामललानहछू' में ऐसी ही एक दूसरी भूल भी है। एक छंदमें कहा गया* है कि कौशल्याकी 'जेठि' ने यह 'अनुशासन' दिया कि वे सिंहासनपर बैठकर नहछू करावें—

> कौसल्या की जेठि दीन अनुसासन हो।
>
> नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो॥ ९॥

इस प्रकार, 'रामललानहछू'के अनुसार कौशल्याकी कोई 'जेठि' (पति की ज्येष्ठ भ्रातृ-वधू) भी थीं जिनके 'अनुशासन' से वे नहछू कराने लगीं। क्या यह भी ऐतिहासिक दृष्टिसे सत्य है? जहाँतक लेखकका ध्यान है यह उल्लेख कहीं नहीं हुआ है कि कोई ऐसी 'जेठि' थीं। पटरानियोंमें भी उनका शासन सर्वोपरि था।

---

[1] 'तुलसी ग्रंथावली', तीसरा खंड, पृ० ६६

[2] 'इंडियन एंटीक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० १०७

तब यह सौभाग्यवती कौन थी जिसका 'अनुशासन'—'अनुमति', 'सहमति' आदि भी नहीं—कौशल्याको नहछू मनानेके लिए हुआ ?

'रामललानहछू' में प्रबंध-दोष भी साधारण मात्रामें नहीं है। इतने छोटे आकारके प्रबंध-काव्यमें एक प्रबंध-त्रुटि तो स्पष्ट है—

> बटिकै दीन बरिनिया छाता पानिहि हो।
> चन्द्रबदनि मृगलोचनि सब रसखानिहि हो।
> नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
> देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ ८॥

इतने वर्णनके अनुसार नाउन भी बारिन आदिके साथ यहाँ उपस्थित थी और 'गारी' देती तथा गाती थी। किंतु, आगे ही चलकर वह बुलाई जाती है—

> नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बोलाई हो।
> करि सिँगार अति लोन तौ बिहँसत आई हो।
> कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिहे कर हो।
> आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥ १०॥

अर्थात् 'नाइन शीघ्र बुलाई गई, वह खूब सजधजकर हँसती हुई आई, सुंदर नहरनी उसके हाथमें थी और रामको दूलह वेषमें देखकर उसे अपार हर्ष हुआ।' इसप्रकार, इस पिछले उद्धरणसे जान पड़ता है कि वह पहलेसे वहाँ उपस्थित नहीं थी, क्योंकि अन्यथा उसके 'बेगि' बुलाए जाने और 'करि सिंगार अति लोन' आनेका कोई कारण नहीं था।

एक दूसरे स्थानपर फिर एक प्रबंध-त्रुटि है—

> काहे रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
> कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥ १२॥

तक नाइनका जो परिहास है वह ठीक है—जो प्रत्येक सहृदय समझ सकता है— किंतु यही आगे चलकर उसी पदमें नितांत भ्रमपूर्ण होगया है—

> राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आनक हो।
> भरत सत्रुघन भाइ तौ श्रीरघुनाथक हो॥ १२॥

जब एकबार यह माना जाता है कि कौशिल्याको ही धोखा हुआ तो उसी के आगे यह कैसे कहा जा रहा है कि राम दशरथके हैं और लक्ष्मण दूसरेके हैं ? फिर, शरीरके वर्णके आधारपर भरत और शत्रुघ्न किस प्रकार भाई कहे जा सकते थे ? भरत और राम एक 'अनुहारि' के थे, किंतु शत्रुघ्न तो लक्ष्मणकी 'अनुहारि' के थे। परिहासकी भूलें और अधिक स्पष्ट करना कदाचित् शिष्टताके विरुद्ध होगा, अतएव हमें इतनेसे ही संतुष्ट होना पड़ेगा।

'रामललानहछू' में एक और बड़ी विचित्रता है जिसकी तुलनाके लिए गोस्वामीजीकी ग्रंथावलीमें उदाहरण मिलना असंभव है, यह है ठस थे ठेठ शृङ्गाररस-मय होने की—परकीया-रति भी नहीं छूटने पाई है। दशरथ ऐसा प्रसिद्ध धर्म-भीरु और सत्यनिष्ठ राजा एक साधारण अहिरिनके यौवनपर मुग्ध हो जाता है—

> अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लै आवइ हो।
> उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो॥ ५॥

इसीप्रकार,

> रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
> जाकी ओर निहारहि मन तेहि साथहि हो॥ ६॥

अर्थात् 'तँबोलिन सुंदरी जिसकी ओर देखती है उसीका मन उसके साथ हो जाता है।' और,

> कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
> चन्द्रबदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो॥ ७॥
> नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
> देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ ८॥

इन सब स्थलों पर कविने सौंदर्य-वर्णन तथा रूप-निरूपणकी भावनाका जो दुरुपयोग किया है वह तो तुलसी-ग्रंथावलीमें अन्यत्र अप्राप्य है।

अतएव, इतनी बड़ी ऐतिहासिक भूलों, प्रबंध-दोषों, तथा 'ठेठ' शृंगार-पूर्ण वर्णनोंसे तो यही कल्पना होती है कि 'रामललानहछू'का कर्ता 'मानस', 'गीतावली', 'विनय' और 'कवितावली' का स्वनामधन्य रचयिता नहीं है। किंतु रचनामें तुलसीदास नाम आनेसे, वेणीमाधवदास-द्वारा 'मूल गोसाइं-चरित' में उसके गोस्वामीजीकृत कहे जानेसे, और पं० रामगुलाम द्विवेदीके प्रमाणपर उसके 'तुलसी-ग्रंथावली' (ना०प्र० स० सं०) में संमिलित किए जानेसे यह कहना सरल नहीं है कि 'रामललानहछू' गोस्वामीजीकी रचना नहीं है। फिरभी, यदि यह गोस्वामीजीकी रचना है तो निस्संदेह उनकी प्राथमिक कृति है, मध्यकालीन रचनाओंमें तो सम्मिलित की ही नहीं जा सकती, और अंतिम रचनाओंमें इसे स्थान देना कल्पनातीत होगा। किंतु, वेणीमाधवदासने 'मूल गोसाइंचरित' में इसे उनकी अंतिम रचनाओंमें रक्खा है और इसका निर्माणकाल सं० १६६६ वि० माना है[1]—जिस वर्षके पश्चात् गोस्वामीजीने

[1] बाबू श्यामसुंदरदास 'गोसामी तुलसीदास', पृष्ठ ९४ पर लिखते हैं—"पार्वती-मंगल जानकीमंगल तथा रामललानहछू एक ही समयके लिखे हुए ग्रंथ जान पड़ते हैं।

कोई नवीन रचना, 'मूल गोसाईं-चरित' के अनुसार, नहीं की। यदि और सब बातें जाने दी जायँ तो भी क्या कोई यह अनुमान कर सकता है कि ११२ वर्षका जरा-जर्जर महात्मा (क्योंकि वेणीमाधवदासके अनुसार गोस्वामीजीका जन्म सं० १५५४ में हुआ था) ऐसी 'ठेठ' शृंगार-पूर्ण रचनामें प्रवृत्त हुआ होगा ? 'रामललानहछू' तो गोस्वामीजीका बालप्रयास-सा लगता है। यदि यह वस्तुत गोस्वामीजीकी कृति है तो कदाचित् इसकी रचना 'मानस' से लगभग २० वर्ष पूर्व हुई होगी।

'रामललानहछू' की रचना दोनों 'मंगलों' के साथ मानते हुए बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्री पीताबरदत्त बड्थ्वाल लिखते हैं—

"गोसाईंजीने इसे वास्तवमें विवाहके समयके गदे नहछुओंके स्थानपर गानेके लिए बनाया है। उनका मतलब राम-विवाह ही से है। कथा-प्रसंगके पूर्वापर-संबंधकी रक्षाका ध्यान इसीलिए उसमें नहीं किया गया है।"[1]

क्या यह समाधान ठीक है ? प्रश्न यह है कि क्या 'जानकीमंगल' में 'उनका मतलब राम विवाह ही से' नहीं था ? उसमें क्यो कथा-प्रसंगके पूर्वा-

---

इनकी शैली और भाषा एक ही प्रकारकी है। वेणीमाधवदासके अनुसार इनकी रचना मिथिलामें हुई—

मिथिलामें रचना किये, नहछू मगल दोय।
पुनि प्राचे मन्त्रित किये, सुख पावैं सब लोय॥

इन ग्रंथोंका उल्लेख मूल चरितमें स० १६६९ की घटनाओंके साथ किया गया है। परतु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि १६६९ में गोसाईंजीने इनकी रचना की। यहा उनकी पहली यात्रासेही वेणीमाधवदासका तात्पर्य है स० १६६९ में तो गोस्वामीजीने उन्हे केवल अभिमन्त्रित किया जिससे वे विवाहादिके अवसरपर गाये जाकर मगलकारी सिद्ध हों। स० १६७० के आरभमें गोसाईंजी इतने दुर्बल होगए थे कि जब पहलेके बनेहुए छोटे छोटे ग्रंथोंका फिर से सशोधन किया तो उन्हें दूसरोंसे लिखवाना पडा। ऐसी अवस्थामें यह सभावना कि उन्होंने इससे थोडे ही समय पहले मिथिला यात्रा की हो, यह सभाव्य नहीं जान पडता। वास्तवमें उस समय गोसाईंजी अखड काशीवास कर रहे थे। पहली मिथिला-यात्रा गोसाईंजीने स० १६४० से पहिले की थी। १६४० में वे मिथिलासे काशी लौट आए थे। इससे मूल चरितके अनुसार इन तीनों ग्रंथों का रचना-काल स० १६३९ के लगभग ठहरता है।'

स० १६३९ की मिथिला यात्राके प्रसगमें "नहछू' या किसी भी रचनाकी ओर कोई सकेत भी नहीं किया गया है। यदि हम बाबूसाहबका अर्थ मान लें, तो भी क्या 'रामलला नहछू' को हम 'रामचरितमानस' से १८ वर्ष पीछेकी रचना मान सकते हैं ? वेणीमाधवदासके अनुसार ही स० १६३९ के लगभग 'विनयपत्रिका' की भी रचना हुई (मू० गो० च० दो० ५१) -दोनों रचनाओंके भाव तथा भाषा शैली आदि में कितना अतर है! क्या हम यह मान सकते हैं कि 'रामललानहछू' 'विनयपत्रिका' के साथकी रचना है ?

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ९६

पर-संबंधकी रक्षाका ध्यान रक्खा गया है ? इसके अतिरिक्त, दोनोंकी रचना बाबू-साहब 'पार्वतीमंगल के साथही ही मानते हैं ?[1] किंतु, क्या 'रामललानहछू' ग्रन्थ दोनोंकी मुकृपिके दृश्यमाधना भी परिचय देता है ?

जानकीमंगल

'जानकीमंगल' का नाम 'पार्वतीमंगल' के साथ लिया जाता है। सं० १६६१ की रचनाओंका उल्लेख करते हुए वेणीमाधवदासने लिखा है—

मिथिला मैं रचना रिये, नहछू मगल दोय ॥ ९४ ॥

और आधुनिक विद्वान् भी 'पार्वतीमंगल' का रचना-काल सं० १६४३ मानते हुए 'जानकीमंगल' का प्रणयन उसीके लगभग हुआ मानते हैं। किंतु, 'जानकीमगल' सं० १६४३ या उसके आसपासकी रचना नहीं हो सकती। अन्तस्साक्ष्यके आधार पर हमें उसे 'रामचरितमानस' से पूर्वकी रचना मानना पड़ेगा।

'जानकीमंगल' का विषय है सिय-रघुबीर-विवाह—

सियरघुबीर विवाह जथामति गावौं ॥ २ ॥

प्रथ सीताके जन्म और कौमार्यका अति संक्षिप्त परिचय देते हुए स्वयवरके वर्णनसे प्रारंभ होता है। जनकने शिवधनुको भग करनेवालेके साथ सीताके पाणिग्रहणकी घोषणा प्रकाशित कर दी है, और धनुष-यज्ञके लिए अयत सुदर रगभूमिकी रचना कराई है। देश-देशातरके राजाओंके पास सदेश भेज दिया गया है और वे एक-एक करके आने लगे है।[2] वे सब रूप, शील, बल आदिमें इतने श्रेष्ठ हैं मानों पुरदरका एक दल ही उतर आया है। 'दानव, देव, निसाचर, किंनर, अहिगन सभी नृप-वेशमें प्रमुदित हो चल पडे हैं।[3] चारोंओर गान-वाद्यादिका बड़ा कोलाहल है—'भला सीताके विवाहके उत्साहका कौन वर्णन कर कर सकता है ?[4]

गाधिसुवन तेहि अवसर अवध सिधायउ ॥ १६ ॥

अर्थात् 'उसी समय विश्वामित्र राम लक्ष्मणके लिए अयोध्या गए।' 'जानकी-मंगल' को छोड़कर कथाका यह क्रम 'रामाज्ञा' के अतिरिक्त गोस्वामीजी के अन्य किसी ग्रंथमें नहीं है। 'रामाज्ञा में भी राम विवाह दो स्थानोंपर वर्णित है,[5] किंतु वह क्रम दूसरे स्थानपर है, पहलेपर नहीं। 'रामाज्ञा में दो स्थानापर

---

[1] गोस्वामी तुलसीदास पृ० ९४ ९५

[2] 'जानकीमगल', ९

[3] वही, १० और ११

[4] वही १५

[5] 'रामाज्ञा—प्रथम सर्ग सप्तक ४, ५, और ६, तथा चतुर्थ सर्ग सप्तक ५, ६, और ७

विवाहका वर्णन करते हुए दो क्रमोंका होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं किंतु, 'रामाज्ञा' के अतिरिक्त 'जानकीमंगल' का यह क्रम अन्य ग्रंथोंमें नहीं रखा गया है। यह तथ्य इस बातकी ओर संकेत करता है कि 'जानकीमंगल' की रचना न केवल 'मानस' से पूर्व हुई वरन् 'रामाज्ञा से भी, और 'रामाज्ञा' की रचना कदाचित् दोनोंकी मध्यवर्तिनी है, क्योंकि उसमें एक ओर 'जानकीमंगल' तथा दूसरी ओर 'मानस' एवं 'मानस' के परवर्ती ग्रंथोंके दोनों क्रम दो विभिन्न स्थानोंपर रक्खे गए हैं।

इसके अतिरिक्त, 'जानकीमंगल' में वह फुलवारी लीला भी नहीं है जो 'मानस' में एक विशेष स्थान रखती है। 'जानकीमंगल' में रंगभूमिमें ही सीता और राम एकाएक एक-दूसरेको देखते हैं। स्वयंवरमें बड़े-बड़े राजा उपस्थित हैं, नगरके नर-नारी भी दर्शक हैं, वे आपसमें राम लक्ष्मणके विषयमें चर्चा कर रहे हैं। इसी समय—

जनक आयसु पाइ कुलगुरु जानकिहि लै आयऊ।
सिय रूपरासि निहारि लोचन लाहु लोगन्हि पायऊ ॥ ९० ॥

राम दीख जब सीय सीय रघुनायक। दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक ॥ ९४ ॥
प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहि। जनु हिरदय गुन ग्रामथूनि थिर रोपहि ॥ ९५ ॥

इसीप्रकार, 'जानकीमंगल' में 'मानस', 'गीतावली', तथा 'कवितावली' आदिमें उल्लिखित जनकका वह निराश वचन भी नहीं है जो उन्होंने राजाओंके असफल होनेपर कहा था, और न उसका वह उत्तर ही है जिसे लक्ष्मणने बड़ी ओजपूर्ण भाषामें दिया था। 'मानस' में, लक्ष्मणके सरोष उत्तरका आतंक चारोंओर छा गया और जनक सकुचाए। रामने यह देख इंगितसे लक्ष्मणको चुपचाप अपने पास बैठा लिया। इस समय विश्वामित्रने उपयुक्त अवसर देखकर रामसे कहा 'राम! उठो, शिव धनुका भंजनकर जनकके परितापका शमन करो।' गुरुका ऐसा आदेश पा राम स्वाभाविक रीतिसे उठे, न हर्ष था न विषाद, और रंगमंचपर बाल-सूर्यके समान शोभित हुए।[1] जनककी निराशा और धनुभंगके बीचका यही प्रसंग 'जानकीमंगल' में एक दूसरे प्रकारसे यों है—

दखि सपुर परिवार जनक हिय हारेउ। नृपसमाज जनु तुहिन बनज बन मारेउ ॥ १०० ॥
कौसिक जनकहि कहेउ देहु अनुसासनु। देखि भानुकुल भानु इसानु सरासनु ॥ १०१ ॥

विश्वामित्रके इस प्रस्तावपर जनकने कहा कि यह अनुचित है—

[1] रामचरितमानस' (रामदास गौड़वाला संस्करण) बाल०, दो० २५४

मुनिवर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहिं। तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहिं ॥ १०२ ॥
बानु बानु जिमि गयउ, गवहिं दसकंधरु। को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु ॥ १०३ ॥
पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एकनारिव्रत पालक ॥ १०४ ॥
सो धनु कहिअ बिलोकन भूपकिसोरहिं। भेद कि सिरिस सुमन कन कुलिस कठोरहिं ॥ १०५ ॥
रोम रोम छबि निंदति सोभ मनोजनि। देखिय मूरति मलिन करिय मुनि सो जनि ॥ १०६ ॥

यही क्या कम था कि विश्वामित्रने जनक से रामको धनुष दिखानेका प्रस्ताव किया? फिरभी जनकने उनकी बात उलट दी! जनकके ऐसे अनभिज्ञतापूर्ण वचन सुनकर विश्वामित्र हँसे, और उन्होंने कहा—

मुनि हँसि कहेउ जनक यह मूरति सो हइ। सुमिरत सकृत मोह मल सकल बिछोहइ ॥ १०७ ॥
सब मल बिछोहनि जानि मूरति जनक कौतुक देखहू।
धनु सिंधु नृप बल जल बढ़्यो रघुबरहिं कुंभज लेखहू ॥ १०८ ॥

ऐसा सुनकर जनक असमंजसमें पड़ गए और राम हर्ष-विषाद-रहित हो धनुभंगके लिए चले—

सुनि सकुचि सोचहिं जनक गुरु पद बंदि रघुनंदन चले।
नहि हृदय हरष विषाद कछु भए सगुन सुभ मंगल भले ॥ १०८ ॥

किंतु एक बहुत ही बड़ा अंतर परशुराम-गर्वहरण प्रसंगके संबंध में है। 'मानस' तथा 'कवितावली' में परशुराम स्वयंवरसभामें ही धनुभंगके पीछे उपस्थित होते हैं और वहाँ लक्ष्मणसे उनका बड़ा व्यंग्यपूर्ण वाद-विवाद भी होता है। किंतु, 'जानकीमंगल में यह नाटकीय प्रसंग नहीं आता, और लक्ष्मणका उनसे कोई वाद-विवाद नहीं होता—

तब कीन्ह कोसलपति पयान निसान बाजे गहगहे ॥ १९८ ॥
पथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए। डाटहि आँखि दिखाइ कोप दारुन किए ॥ १९९ ॥
कीन्ह राम परितोष रोष रिसि परिहरि। चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि ॥ २०० ॥

इसप्रकार, 'मानस' से 'जानकीमंगल' मुख्यतया फुलवारी-लीला, जनकके निराश-वचन, लक्ष्मणके दर्पपूर्ण उत्तर, सभामें ही परशुराम-गर्व-हरणके अभाव-में भेद रखता है। 'मानस' में फुलवारीलीला तथा जनकके निराश-वचन 'प्रसन्न-राघव' से, लक्ष्मणका उत्तर 'हनुमन्नाटक' से, तथा परशुरामका सभामें गर्वहरण पुनः 'प्रसन्नराघव' से लिए गए हैं। फलतः यह स्पष्ट होजाता है कि 'जानकीमंगल' की रचना 'मानस' से पूर्व हुई, क्योंकि 'मानस' में तो ये प्रसंग हैं ही, 'गीतावली' तथा 'कवितावली' में भी हैं जिनकी रचना 'मानस' से पीछे की है।

इस बातकी पुष्टि एक प्रकारसे और होती है—वह है 'जानकीमंगल' में शृंगार-रसके रूपसे। 'नहछू' का शृंगार 'ठेठ' शृंगार है, और 'मानस' का पवित्र तथा

सौम्य शृंगार है। किंतु 'जानकीमंगल' का शृंगार दोनोंका मध्यवर्ती है। सीताके स्वाभाविक दृष्टिपात का वर्णन 'जानकीमंगल' में इस प्रकार किया गया है—

रूप रासि जेहि ओर सुभाय निहारहि। नील कमल सर स्रेनि मयन जनु डारइ॥ ९२॥

अर्थात् 'सीता जिस ओर स्वाभाविक रीतिसे भी देखती हैं उधर मानो कामदेव नील कमल-शरोंकी वर्षा करता है।'

राम-सीताका परस्पर-दर्शन 'जानकीमंगल' में इस प्रकार है—

राम दीख जब सीय सीय रघुनायक। दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक॥ ९४॥

यहाँ भी परस्पर-दर्शनमें कामदेव दोनों व्यक्तियोंको व्यथित कर रहा है। जयमाल पहिरानेमें भी इसीप्रकार, कविको 'कामफंद' की कल्पना सूझती है—

ससत ललित वर कमल माल पहिरावत। कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत॥१२२॥

भावक्षेत्रमें कामदेवका इसप्रकार उलझ पड़ना 'रामललानहछू' तथा 'जानकी-मंगल' के अतिरिक्त राम और सीताके चरित्रके संबंधमें तुलसी-ग्रंथावलीमें अन्यत्र नहीं मिलता है, यद्यपि रूप-वर्णनके क्षेत्रमें सौंदर्यके आदर्शोंकी भाँति निस्संदेह वह अनेक स्थलोंपर व्यवहृत हुआ है।

अतएव, 'जानकीमंगल' 'मानस' से पूर्वकी रचना है यह धारणा दृढ़ हो जाती है, किंतु, 'मानस' से कदाचित् दस वर्षसे अधिक पूर्वकी नहीं, क्योंकि 'रामललानहछू' के—जिसका रचना-काल हम आगे 'मानस' से लगभग २० वर्ष पूर्व मान आए हैं—एक भी दोष इस ग्रंथमें नहीं हैं और उसकी अपेक्षा इसकी शैलीमें यथेष्ट प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है और इसका प्रमुख छंद सोहर होते हुए भी हरिगीतिकाके सम्मिलित कर लेनेसे साहित्यिक प्रयोगके उपयुक्त बन गया है। 'जानकीमंगल' की कथा 'रामाज्ञा' की कथाके बहुत निकट है, और 'रामाज्ञा' 'मानस' से थोड़े ही पूर्वकी रचना है, यह हमें आगे ज्ञात होगा, फलतः सं० १६६६ अथवा सं० १६४३ अथवा सं० १६३६ को भी इसका रचना-काल नहीं माना जा सकता, यह कदाचित् स्पष्ट है। अतः 'जानकीमंगल' का रचना-काल अनुमानसे सं० १६२१ लगभग के ठहरता है।

रामाज्ञा

सर जार्ज ग्रियर्सनने लिखा है[1], 'छक्कनलाल कहते हैं कि १८२७ ई० में उन्होंने 'रामाज्ञा' की एक प्रतिलिपि मूल प्रतिसे की थी जो कविके हाथकी लिखी

---

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृष्ठ ९६। फुटनोट में वे छक्कनलालके शब्द देते हैं, "श्री संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवारकी लिखी पुस्तक श्रीगोसाईंजीके हस्तकमलकी प्रह्लादघाट श्रीकाशीजी में रही। उस पुस्तकपर से श्रीपंडितरामगुलामजीके सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ रामायणी मिरजापुरवासीने अपने हाथसे सं० १८८४ में लिखा था।"

थी और लिखाई तिथि कविने स्वयं सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।' और 'रामाज्ञा' की यह प्रति गोस्वामीजीके हाथ की, ... लिखी थी ..., 'रामाज्ञा' की यह प्रति ... और प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (लगभग सन् १८९३ ई०) तक विद्यमान थी।'

'मूल गोसाईंचरित' में वेणीमाधवदासने 'रामाज्ञा'की रचना सं० १६६६ में होनेका उल्लेख किया है[2] किंतु यदि उपर्युक्त साक्ष्य सत्य माना जाय, हमारे मत उक्त लिखित लिपि तिथि भी सत्य माननी ही पड़ेगी—तो सं० १६६६ उसकी रचना-तिथि नहीं हो सकती। अब प्रश्न यह है कि सं० १६५५ को 'रामाज्ञा' की रचना-तिथि मानी जाय या उससे पूर्वकी कोई तिथि।

इसके साक्ष्यमें छक्कनलालका कथन है कि यह प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी थी, किंतु इस विषय में संदेह होना कदाचित् अनुचित न होगा, क्योंकि उनकी यह धारणा जन-श्रुतिके आधारपर ही रही होगी और जन-श्रुति कमसे कम ऐसे विषयोंमें बड़ी कठिनतासे प्रमाण मानी जासकती है। कुछ वर्ष पूर्व अनेक प्रतियाँ गोस्वामीजीके हाथकी लिखी मानी जाती थीं, किंतु आज दो-एक को छोड़ अन्योंके विषयमें विद्वानोंकी धारणा है कि वे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी नहीं हैं। यदि यह माना भी जाय कि यह प्रति गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी थी तो क्या उसके साथ यह भी मानना अनिवार्य होगा कि वही प्रथम मूल प्रति थी? अधिक संभावना तो इस बातकी है कि वह एक प्रतिलिपि-मात्र थी, चाहे वह किसीके हाथकी लिखी हुई रही हो।

सर जार्ज ग्रियर्सनने अन्य तिथियोंके साथ 'रामाज्ञा' की तिथिके विषयमें लिखते हुए यद्यपि सं० १६५५ को उसकी रचना तिथि मान लिया है किंतु उन्हें यह खटका अवश्य था कि यह प्रतिलिपि-तिथि भी हो सकती है। इसलिए उन्होंने तिथियोंके संबंध में अपने अनुसंधानका निष्कर्ष लिखते हुए इसप्रकार लिखा है[3]—

'रामाज्ञा' की रचना तिथि (या प्रतिलिपि-तिथि ?) रविवार जून ४, सन् १५९८ ई०।

मिश्रबंधुओंने लिखा है,[4] 'रामाज्ञाके विषयमें कुछ संदेह बाकी है। कारण कुछ लोगोंके कथनानुसार छक्कनलालको 'रामाज्ञा' नहीं, 'रामशलाका' की प्रति

---

१ 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' १८९३ ई०, पृ० १०७
२ 'मूल गोसाईंचरित' दो०, ९५
३ 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९८
४ 'हिंदी-नवरत्न', पृ० ७–

लिखी थी।"[1] किंतु ग्रियर्सन साहबकी खोजके विषयमें संदेह करना कदाचित् अनुचित होगा।

इस प्रकार, सं० १६५५ 'रामाज्ञा' की रचना-तिथिकी एक सीमा अवश्य है, किंतु उससे कितने पूर्व उसकी रचना-तिथि रखी जा सकती है यह ऊपरके साक्ष्यसे अनिश्चित है। अंतःसाक्ष्य अवश्य यह सिद्ध कर देता है कि 'रामाज्ञा' 'मानस' से पूर्वकी रचना है।

'रामाज्ञा'में कथा राजा दशरथके राम-काजसे आरंभ होती है, और आरंभ में ही नीचे लिखे हुए शब्दों में—

बिधिबस बन मृगया फिरत दीन अंध मुनि साप। १-२-१।

—उस कथाकी ओर संकेत किया जाता है जिसे 'मानस' के अनुसार मरण-शय्यापर दशरथने स्वमुखसे कहा था।

सीता-स्वयंवरकी कथा 'रामाज्ञा' में दो स्थानोंपर कही गई है। पहले प्रथम सर्गमें, फिर चतुर्थ सर्गमें। प्रथम सर्गमें वह जिस क्रमसे है, वह 'मानस' का है। चतुर्थ सर्गका क्रम 'जानकीमंगल' का है, और वह इस प्रकार है—

जनकनंदिनी जनकपुर जब ते प्रगटी आइ।
तब ते सब सुख संपदा अधिक अधिक अधिकाइ॥ ४५१॥

---

[1] बाबू शिवनंदनसहायने ('श्री गोस्वामी तुलसीदासजी', पृ० ३५३ पर) लिखा है—'यह जानकी छपनेके थोड़े ही दिन पहले हमको का० ना० प्र० पत्रिका (भाग १९, संख्या १०) में रघुलोटलाल व्यासजीका एक लेख देखनेमें आया—आप अपनेको गंगाराम ज्योतिषीका वंशधर बताते हैं, और लिखते हैं कि "गंगारामके दो भाई थे। दूसरेका नाम दौलतराम था। उनके वंशजोंमें पंडित गिरिधर व्यास हुए। (आपके पास ही ग्रियर्सन साहबने गुसाईंजीकी तसवीर देखी थी) मैं उनका नाती हूं। असलमें 'रामाज्ञा' नहीं किंतु 'रामशलाका' थी, जो रामचंद्र (मेरे बहनोईके भाई) और गंगाधर (मेरी बुआके पुत्र) के हाथसे सं० १९२०-२२ के करीब लुटेरोंने श्रीनाथजीकी यात्राके समय उदयपुरके निकट लूट ली थी। उस 'रामशलाका' की नकल मिरजापुर निवासी पं० रामगुलामजी द्विवेदीके श्रोता छक्कनलालजीके पास है। तसवीर मेरे पास सुरक्षित है।" 'रामाज्ञा' की रचनाके संबंधमें जो बातें ग्रियर्सन साहबने लिखी हैं, उन्हींका सारांश इन्होंने 'रामशलाका' के विषयमें लिखा है।'

दोनों साक्ष्यों में बड़ा अंतर है। किंतु ग्रियर्सन साहब तथा पं० सुधाकर द्विवेदीके कथन निश्चय ही अधिक विश्वसनीय हैं क्योंकि उन्होंने कदाचित् छक्कनलालसे ही यह जाँच की थी, और व्यासजीकी बातें सुनी हुई हैं। 'रामाज्ञा' किसी गंगारामको ही संबोधितकर लिखी गई है, यह स्पष्ट है—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम॥ १७७॥

यदि ये गंगाराम उपर्युक्त गंगाराम ज्योतिषी ही थे, तो उनके वंशधरोंके पास उपर्युक्त प्रतिका रहा होना बहुत संभव है।

> सीयस्वयंबर जनकपुर सुनि सुनि सकल नरेस।
> आए साज समाज सजि भूषन बसन सुदेस॥ ४०२॥
> चले मुदित कौसिक अवध मगु सुमंगल साथ।
> आए सुनि सनमानि गृह आन कोसलनाथ॥ ४०३॥

यह अंश 'जानकीमंगल'वाले उसी प्रसंगके अंशसे मिलाने योग्य है। कथा का यह क्रम 'जानकीमंगल' को छोड़कर गोस्वामीजीने किसी अन्य ग्रंथमें नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'रामाज्ञा' की रचनाके समय उक्त प्रसंगके दोनों ही क्रम गोस्वामीजीके ध्यानमें थे, और उस समयतक उन्होंने यह निश्चित नहीं कर लिया था कि दोनोंमें कौनसा अधिक सुंदर होगा। कदाचित् इसलिए उन्होंने 'रामाज्ञा' में एक ही प्रसंग दो सर्गोंमें रखते हुए दोनों विभिन्न कथा-क्रमोंका आश्रय लिया है। 'रामाज्ञा' इसप्रकार, 'जानकीमंगल' तथा 'मानस'की मध्यवर्तिनी रचना प्रतीत होती है।

मख-रक्षा तथा अहिल्या-उद्धारके पीछे विश्वामित्र राम और लक्ष्मणके साथ जनकपुर जाते हैं, किंतु न तो प्रथम सर्गमें और न चतुर्थमें ही किसी फुलवारी-लीलाकी कथा आती है।

'मानस' में राजाओंके असफल होनेपर जनकके जो निराशापूर्ण वचन हैं वे भी 'रामाज्ञा' में नहीं हैं, और न उन वचनोंका वह दर्पपूर्ण उत्तर ही है जो लक्ष्मणने दिया था।

'रामाज्ञा' के चतुर्थ सर्गमें परशुराम मिलनका प्रसंग ही नहीं है। प्रथम सर्गकी कथा में अवश्य वे 'जानकीमंगल' की ही भांति मार्गमें मिलते हैं, 'मानस' की भाँति स्वयंवर-सभामें नहीं, और इसीलिए लक्ष्मणसे उनका वह वाद विवाद भी नहीं है जो 'मानस' में है और 'जानकीमंगल' में नहीं है। 'रामाज्ञा' का परशुराम-मिलन इस प्रकार है—

> चारिउ कुँवर बियाहि पुर गवने दसरथ राउ।
> भए मंजु मंगल सगुन गुरु सुर संभु पसाउ॥ १६३॥
> पंथ परसुधर आगमन समय सोच सब काहु।
> राज समाज बिषाद बड़ भय बस मिटा उछाहु॥ १६४॥
> रोष कलुष लोचन भृकुटि पानि परसु धनु बान।
> काल कराल बिलोकि मुनि सब समाज बिलखान॥ १६५॥
> प्रभुहि सौंपि सारंग मुनि दीन सुआसिरबाद।
> जय मंगल सूचक सगुन राम राम संबाद॥ १६६॥

चित्रकूटमें जनकका आगमन 'रामाज्ञा' में नहीं होता है।

जयंतके चोंच मारनेके विषय में, 'रामाज्ञा' में 'काक-कुचालि' कहकर संकेत किया गया है।

सीताकी खोज लानेके लिए आनेपर लंकामें हनुमान और विभीषणकी भेंटका भी उल्लेख 'रामाज्ञा' में नहीं है।

'रामाज्ञा' में हनुमानके समक्ष सीता-रावण-संवाद तो है ही नहीं, मारुति-संदेश-निवेदन भी 'मानस' का-सा नहीं है।

त्रिजटा-सीता-सवादमें, 'रामाज्ञा' में सीताकी अग्नियाचना नहीं है।

'मानस' में सेतुबंधके अवसरपर रामेश्वरकी लिंग स्थापना तथा शिव-उपासनाको विशेष महत्त्व दिया गया है यह भी 'रामाज्ञा' में नहीं है।

'रामाज्ञा' में लक्ष्मणके शक्ति-द्वारा मूर्छित होनेकी कथा भी नहीं है।

'रामाज्ञा' में राम-राज्याभिषेकके अनंतरकी भी कथा षष्ठ सर्गके छठे तथा सातवें सप्तकोंमें संक्षेपमें सीता-अवनि प्रवेश तक दी हुई है।

यहाँपर कुछ विस्तारपूर्वक 'मानस' से 'रामाज्ञा' के मुख्य-मुख्य कथा-भेदोंको दिखानेका प्रयोजन यह है कि पाठकोंको यह बात स्पष्ट हो जावे कि 'रामाज्ञा' की कथाका आधार लगभग पूर्णरूपसे 'वाल्मीकि रामायण' ही है। 'मानस' में फुलवारी लीला तथा जनकके निराशवचन 'प्रसन्नराघव' से, लक्ष्मणका दर्पपूर्ण उत्तर 'हनुमन्नाटक' से, परशुरामका सभामें मिलन और उनका लक्ष्मणसे व्यंग्यपूर्ण वाद विवाद पुन 'प्रसन्नराघव' से लिए गए हैं। अतएव, यह जान पड़ता है कि 'रामाज्ञा' के रचना-कालतक गोस्वामीजी यह निश्चित न कर सके थे कि 'रामाज्ञा' की रामकथाको किन ग्रंथों से कौन से स्थल लेकर और भी सुंदर बनाया जा सकता था। फलत 'रामाज्ञा' की रचना 'मानस' से सात या आठ वर्ष पूर्व, अर्थात् स० १६२३ के लगभग हुई जान पड़ती है।

वैराग्यसंदीपनी

'वैराग्यसंदीपिनी' का प्रथम दोहा—

> राम बामदिसि जानकी लषन दाहिनी ओर।
> ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर ॥ १ ॥

'रामाज्ञा' के सातवें सर्ग के तीसरे सप्तक का सातवाँ दोहा है। इस दोहेमें 'कल्यानमय' ध्यान देने योग्य है। 'रामाज्ञा' के लगभग कुल दोहोंके दूसरे चरणमें शकुनसूचक कोई-न-कोई शब्द अवश्य रहता है, अतएव, उपर्युक्त दोहा 'रामाज्ञा' से 'वैराग्यसंदीपिनी' में लिया गया है, यह स्पष्ट है। गोस्वामीजीकी

यह दोहा इतना अधिक प्रिय था कि 'वैराग्यसंदीपिनी' तथा 'दोहावली' का श्रीगणेश ही उन्होंने इस दोहेसे किया। 'सतसई' में भी इसकी क्रम-संख्या केवल दूसरी है।

'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहोंके अतिरिक्त सोरठों तथा चौपाइयोंका प्रयोग हुआ है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन पीछेके दोनों छंदोंका प्रयोग गोस्वामीजी ने 'वैराग्यसंदीपिनी' की रचना के पूर्व नहीं किया था। सोरठे ग्रंथ भर में केवल दो ही आए हैं, और वे भी दो स्थानोंपर, पहले स्थानपर तीन-तीन और दूसरेपर पाँच-पाँच दोहोंके बीच वे प्रयुक्त हुए हैं। यह प्रयोग विश्रामके ढंगका है, और निस्संदेह प्रशंसनीय है। किन्तु, चौपाइयोंका प्रयोग बड़ी बेढंगी रीतिसे हुआ है। कुल दस स्थानोंपर चौपाइयाँ आती हैं, जिनमें से सातपर चार-चार पंक्तियों के समूह हैं, दोपर आठ-आठ के और एकपर बारह का एक समूह है। दोहोंका प्रयोग भी इसीप्रकार कम ठीक हुआ है—उनकी संख्या विभिन्न स्थानोंपर एकसे साततक है। चौपाइयाँ दोहोंसे दबी हुई हैं। इतने छोटे ग्रंथमें इस-प्रकारकी त्रुटियाँ खटकती हैं। जैसा समन्वय 'मानस' में इन्हीं छंदोंका हुआ है, वैसा 'वैराग्यसंदीपिनी' में ढूँढ़नेकी चेष्टा निस्सार होगी।

विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे 'वैराग्यसंदीपिनी' में 'रामाज्ञा'की भाँति द्वंद्व नहीं है। एक ही विषय है, और उसके प्रतिपादनकी चेष्टा है। विषयको कई भागोंमें विभाजितकर, एक संपूर्ण विचार प्रस्तुत करनेका प्रयास निस्संदेह है। 'रामाज्ञा' की भाँति खटकनेवाला प्रबंध-दोष भी उसमें कोई नहीं है।

इसप्रकार, 'वैराग्यसंदीपिनी' छंद, विषय-प्रतिपादन और प्रबंध-पटुतामें 'रामाज्ञा'से बीस ही है। शैली भी उपयुक्त है, और रचना शिथिल नहीं है। अतएव, वह 'रामाज्ञा' के पीछेकी रचना अवश्य है, किन्तु कदाचित् दो या तीन वर्षोंसे अधिकका अंतर दोनोंमें नहीं माना जा सकता। अतएव, 'वैराग्य-संदीपिनी' की रचना सं० १६२५ के लगभग हुई ज्ञात होती है।

वेणीमाधवदासने इसकी रचना सं० १६६९ में होने का उल्लेख किया है[1] जो स्वतः ठीक नहीं ज्ञात होता। बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्रीपीतांबरदत्त बड़थ्वाल का अनुमान है कि 'वैराग्यसंदीपिनी' की रचना 'विनयपत्रिका' के साथ हुई। वे लिखते हैं[2]—

"अतएव १६२८ और १६३१ के बीच किसी समय 'विनयपत्रिका' बनी होगी। 'वैराग्यसंदीपिनी' भी इस समयका रचा हुआ ग्रंथ जान पड़ता है। उसमें

[1] 'मूल गोसाईंचरित' (नवलकिशोर प्रेस), दो० ९५
[2] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ९१

गोसाईंजी अपने मनको क्रोधादिकसे दूर रहकर शांति रखनेके लिए प्रबोधन करते दिखाई जान पड़ते हैं। बार-बार ये अपने मनको राग-द्वेषसे अलग रहने को कहते हैं और शांतिकी महिमा गाते हैं। . .. तुलसीदासजीके हृदय-में राग-द्वेषकी सबसे अधिक संभावना उससमय थी जिससमय उनके 'रामचरितमानस' के विरुद्ध काशीमें एक बवंडर-सा उठ रहा था, और पंडित लोग उनको कई प्रकार से नीचा दिखानेका प्रयत्न कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि उत्तेजनाका अवसर होनेपर भी ये उत्तेजित नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने इस समय भी अपने प्रभु को न छोड़ा—

फिरी दोहाई रामकी, गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रविके उदय, तुरत जात तम लाजि॥

"इसमें तो संदेह नहीं कि 'वैराग्यसंदीपिनी' 'दोहावली' के संगृहीत होनेके पहले बनी क्योंकि 'वैराग्यसंदीपिनी'के कई दोहे 'दोहावली' में संगृहीत हैं। इस बातकी आशंका नहीं की जासकती है कि 'दोहावली' ही से 'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहे लिए गए होंगे, क्योंकि 'वैराग्यसंदीपिनी' एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और 'दोहावली' स्पष्ट ही एक संग्रह-ग्रंथ। 'दोहावली' का संग्रह सं० १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रंथ १६४० से पहले ही बन चुका होगा। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं हमें इसे 'विनयपत्रिका' के साथ-साथका बना माननेका कारण भी विद्यमान है। कलि-कालकी जिस कुचालके विरुद्ध रामको उद्दिष्टकर 'विनयपत्रिका' लिखी गई उसीके विरुद्ध अपने मनको दृढ़ करनेके लिए आत्मोपदेशके रूपमें 'वैराग्य-संदीपिनी' भी रची गई।"

किंतु, लेखक को यह कल्पना कुछ दूरकी-सी लगती है। कलिका 'वैराग्य-संदिपिनी'में नाम तक नहीं आया है, और शैली, विषय-प्रतिपादन तथा भाव-गांभीर्य आदिमें कहाँ 'विनयपत्रिका' और कहाँ 'वैराग्यसंदीपिनी'!

रामचरितमानस

'मानस' का रचना-काल निर्विवाद है। ग्रंथमें ही गोस्वामीजीने उसका रचना-काल इस प्रकार दिया है[१]—

संवत सोरहसै इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन रामजनम स्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

---

[१] 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण), बाल०, दो० ३४ तथा ३५

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिँ रघुनायक सेवा।
जनम महोत्सव रचहिँ सुजाना। करहिँ रामकलकीरति गाना॥
....

सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी।
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।
रामचरितमानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइय विस्रामा॥

केवल नवमी कहनेसे यह अनिश्चित होता कि यह नवमी शुक्ल-पक्षकी थी अथवा कृष्ण-पक्षकी। अतएव गोस्वामीजीने राम-जन्म-दिन कहकर इसे स्पष्ट कर दिया। गणनासे यह ज्ञात हुआ है कि सं० १६३१ में चैत्र शुक्ला नवमी मंगलवारको लगी और बुधवारको भी प्रातःकाल थी।[1] इसलिए मंगलवार तथा बुधवार कदाचित् दोनों दिन रामनवमी मानी गई होगी। गोस्वामीजीने रामनवमी मंगलवारको ही माना होगा,यह स्पष्ट है। मंगलवारको किस संप्रदाय वालोंकी नवमी रही होगी यह प्रस्तुत विषयसे बाहरकी बात है।

'मानस' की समाप्ति वेणीमाधवदासने सं० १६३३ में राम-विवाहकी तिथि पर माना है—

दुइ बरसर सातके पार परे। दिन छब्बिस माझ सो पूर करे।
तैंतीस को संवत और मगसर। शुभद्यौस सु रामविवाहहिँ पर।
मुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को॥ ४१॥

राम-विवाह-तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी है, अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार 'मानस' सं० १६३३ की उक्त तिथिको समाप्त हुआ, और इसप्रकार उसकी रचना में दो वर्ष सात मासके लगभग लगे। इस विषयपर अन्य कोई साक्ष्य नहीं है। यद्यपि इतने ही समयमें 'मानस' ऐसे वृहद् काव्य-ग्रंथकी रचना समाप्त करना गोस्वामीजी ऐसे प्रतिभा-संपन्न महाकविके लिए असंभव नहीं कहा जासकता फिर भी यह समय कुछ छोटा प्रतीत होता है। इस तिथिकी प्रामाणिकता के विषयमें निश्चयात्मक रीतिसे इसलिए और भी नहीं कहा जा सकता कि वेणीमाधवदासने दिनका नाम स्पष्ट नहीं दिया है।[2]

---

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९४

[2] 'मूल गोसाईंचरित' के शब्द हैं—

तैंतीसको संवत औ मगसर। शुभद्यौस सुरामविवाहहिपर।

'शुभद्यौस' का अर्थ मंगलवार लगाकर बाबू श्यामसुन्दरदासने ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका', भाग ७, अंक ४ में) लिखा है कि यह तिथि ठीक नहीं है, क्योंकि सं० १६३३ में मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी रविवारको पड़ती है, न कि मंगलवारको। किंतु,'शुभद्यौस' का अर्थ रविवार ही होता हो यह संभव है, क्योंकि सं० १६६९ में लिखे हुए पंचनामेमें उसकी तिथि इस प्रकार दी हुई है—

सतसई

'सतसई' में उसका रचना-काल इसप्रकार दिया हुआ है—

अहि रसना (२) थन धेनु (४) रस (६) गनपति द्विज (१) गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार ॥ १—९ ॥

सीताकी जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला नवमी मानी जाती है, अतः 'सतसई' की रचना सं० १६४२, वैशाख शु० ९ को हुई माननी चाहिए। किंतु सर जार्ज ग्रियर्सनने गोस्वामीजीकी कुछ तिथियोंके विषयमें विचार करते हुए इसके संबंधमें लिखा है—"यदि यह तिथि शुद्ध है तो तुलसीदासने 'सतसई' की तिथिके लिखनेमें प्रचलित-संवत्-वर्षका व्यवहार किया न कि विगत-संवत्-वर्षका। पंडित सुधाकर द्विवेदी इस बातकी ओर संकेत करते हैं कि यह उस कविकी प्रणालीके विरुद्ध है, और उस दोहेकी प्रमाणिकतापर जिसमें वह तिथि आती है, सबसे अधिक संदेह उत्पन्न करता।"[१]

'मूल गोसाईंचरित' में वेणीमाधवदासने 'सतसई' का रचना-काल यों दिया है—

माधव सित सियजनम तिथि, ब्यालिस संवत बीच।
सतसैया बरनै लगे, प्रेमवारि तें सींच ॥ ५६ ॥

इस दोहेकी पहिली पंक्तिका पूर्वार्द्ध 'सतसई' से उद्धृत उपर्युक्त दोहेकी दूसरी पंक्तिका पूर्वार्द्ध है और प्रथम पंक्तिका उत्तरार्द्ध उक्त दोहेकी पहली पंक्तिका आशय है। इसप्रकार, 'मूल गोसाईंचरित' भी 'सतसई' के दोहेकी प्रामाणिकताका समर्थन करता है। किंतु, यह भी असंभव नहीं कि 'मूल गोसाईंचरित' के रचयिता ने 'सतसई' के उपर्युक्त दोहेके आधारपर ही उसके रचना-कालका उल्लेख इसप्रकार किया हो। दोनों दोहोंकी शब्दावलीका भी एक होना इसी तथ्यकी ओर संकेत करता है।

फिर भी, पंडित सुधाकर द्विवेदीका यह कथन कि गोस्वामीजीकी प्रणाली प्रचलित-संवत्-वर्ष न देकर विगत-संवत्-वर्ष देने की थी, विचारणीय है। गोस्वामीजीने केवल तीन ही ग्रंथोंमें उनका रचना-काल दिया है, 'मानस', 'सतसई',

'सं० १६६९ समये कुआर सुदि तेरसि वार शुभदिने लिखित।' और सर जार्ज ग्रियर्सनने 'शुभदिने' का अर्थ रविवार लेकर उक्त तिथिकी शुद्धता निश्चित की है। ('इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९८)। यदि वस्तुतः 'शुभदीस' का अर्थ रविवार हो तो वेणीमाधवदासकी दी हुई 'मानस' की समाप्तिकी तिथि कमसे कम गणनाके अनुसार अवश्य शुद्ध है।

[१] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९५

और 'पार्वतीमंगल' में। 'मानस' की तिथि दोनों प्रणालियोंसे शुद्ध उतरती है।[१] 'सतसई' का विषय सामने ही है। रहा 'पार्वतीमंगल' के विषयमें, सो उसमें गोस्वामीजीने केवल 'तद संवत्' दिया है, जिसे यथाविधि विगत संवत-वर्षकी प्रणालीसे ही मानना ठीक होगा।[२]

उपरकी तिथियोंके अतिरिक्त तीन और भी हैं जिनपर विचार किया जा सकता है—

(क) 'रामाज्ञा' की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतिपर लिखी हुई तिथि—ज्येष्ठ शु० १० सं० १६५५ रविवार।

(ख) पंचायतनामाकी तिथि—सं० १६६९ कुआर सु० १३ वार शुभ दिन। और,

(ग) 'वाल्मीकि रामायण' की हस्तलिखित प्रतिपर लिखी हुई तिथि—मार्गशीर्ष शु० ७ रविवार सं० १६४१।

इनमेंसे पहलीको एक प्रामाणिक साक्ष्य तभी माना जा सकता है, जब उसे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी निश्चित कर लिया जाय। दूसरी उस दशामें प्रमाण हो सकती है जब 'शुभदिने' का अर्थ रविवार सुनिश्चित हो। और, तीसरीकी गणना ही कदाचित् अभीतक नहीं की गई है। अतएव, इन तिथियों के आधारपर भी गोस्वामीजीकी तिथि देनेकी प्रणालीका दृढ़ता-पूर्वक निश्चय नहीं किया जासकता। इसप्रकार अधिकसे अधिक केवल दो विवाद-ग्रस्त उदाहरणोंके आधारपर यह मान लेना कि गोस्वामीजीकी विगत-संवत्-वर्ष देनेकी ही प्रणाली थी, कदाचित् बिल्कुल ठीक न होगा।

पार्वतीमंगल

'पार्वतीमंगल' में ग्रंथकारने उसका रचना-काल इसप्रकार दिया है—

जयसंवत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु। अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥ ५॥

अर्थात् '(मैंने) जयसंवत्‌की फाल्गुन शुक्ला पंचमी, गुरुवारको अश्विनी नक्षत्रमें इस 'मंगल' की रचना की।' पं० सुधाकर द्विवेदीने गणना करके बताया था कि यह पूरा योग सं० १६४३ (विगत-संवत् वर्ष) में ही पड़ता है, अतएव उक्त

[१] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९१

[२] इसी निबंध में आगे 'पार्वतीमंगल' का रचना-काल संबंधी विवेचन देखिए।

तिथिको 'पार्वतीमंगल' का रचना-काल मानना चाहिए।[1] किंतु, इसके विपरीत वेणीमाधवदासने इसकी रचनाके सं० १६६९ में होनेका उल्लेख किया है,[2] जो स्पष्ट ही न केवल गणना वरन् शैलीके भी साक्ष्यसे अशुद्ध उतरता है। 'विनयपत्रिका', 'बरवै', 'बाहुक' तथा 'कवितावली' के अंतिम अंशकी (जो निस्संदेह गोस्वामीजीकी अंतिम रचनाओंमें से हैं) शैली इतनी प्रौढ़, सुगठित, तथा व्यंजना-पूर्ण है कि उनकी श्रेणीमें 'पार्वतीमंगल' को नहीं रक्खा जा सकता। 'पार्वतीमंगल' की शैली निश्चय ही माध्यमिक है—उसमें लालित्य पर्याप्त है, और भाषा तथा भावोंका अनुपात बराबर-बराबरका है।

'मानस' में शिव-विवाहकी जो कथा दी हुई है, मुख्य अंशोंमें 'पार्वतीमंगल' की भी कथा वही है। दोनों रचनाएँ इतनी मिलती-जुलती हैं कि कितने ही स्थलोंपर दोनोंमें एक-ही शब्दसमूह और एक-ही वाक्य-विन्यास मिल जाता है। फिर भी, जहाँ विभिन्नता है उसपर ध्यान देना चाहिए।

पार्वतीके तपका वर्णन करते हुए 'मानस' में लिखा गया है[3]—

संवत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरष गवाँये॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥
बेलपात महि परइ सुखाई। तीनि सहस संवत सो खाई॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहिं नाम तब भयउ अपरना॥

'पार्वतीमंगल' में पार्वती के तपका वर्णन इसप्रकार है—

नींद न भूख पियास सरिस निसि बासर।
नयन नीर मुख नाम पुलक तनु हिय हर॥ ४१॥
कबहुँ मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं।
सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥ ४२॥
नाम अपरना भयो परन जब परिहरे।
नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे॥ ४३॥

'मानस' के वर्णनमें व्रतोंका लंबा-चौड़ा समय दिया हुआ है, किंतु 'पार्वतीमंगल' के वर्णनमें उसका अभाव है। अत्युक्तिके इस अभावके कारण 'पार्वतीमंगल' के वर्णनमें कितना सौम्य आ गया है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

---

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९५

गणनासे फाल्गुन शु० ५, अश्विनी-नक्षत्रके योगमें गुरुवारके दिन सं० १६४३ में पड़ती है, और सं० १६४३ का फाल्गुन 'जयसंवत्' के बाहर पड़ता है। फिर भी, 'जयसंवत्' की समाप्ति सं० १६४३ में हुई कदाचित् इसलिए सं० १६४३ को भी गोस्वामीजीने 'जयसंवत्' मान लिया, जैसे किसी दिनकी तिथि वह मानी जाती है जो उस दिन में समाप्ति पाती है।

[2] 'मूल गोसाईंचरित', दो० ९४

[3] 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण), बाल० ७४

'मानस' में राम आकर शिवको पार्वतीके साथ विवाह कर लेनेका आदेश करते हैं, और शिव उसे किसी न-किसी प्रकार मान लेते हैं। 'पार्वती मंगल' में यह घटना नहीं है। 'मानस' में रामका बीचमें पड़ना कदाचित् 'रामचरितमानस' में इस कथाके सम्मिलित किए जानेके कारण है, अन्यथा उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं जान पड़ता है।

'मानस' में पार्वतीके प्रेमकी परीक्षा सप्तर्षियों-द्वारा कराई गई है, किंतु 'पार्वतीमंगल' में शिवने स्वयं बटुका वेश धारण करके परीक्षा ली है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'मानस' की रचनाके पीछे कदाचित् कभी 'कुमारसंभव' का अध्ययन करनेपर गोस्वामीजीको यह अनुचित प्रतीत हुआ कि पार्वतीके इतने घोर तप करने पर भी उसके प्रेमकी परीक्षा शिव दूसरोंको भेज कर लें। क्या यह पार्वतीके आदर्श-प्रेम और बलिदानका अपमान न था? अतएव, यह भेद उचित ही हुआ।

'मानस' में सप्तर्षियोंके साथ पार्वतीने खुले मुँह वाद विवाद किया है, किंतु 'पार्वतीमंगल' में बटुकी बातोंका उत्तर उन्होंने सखी द्वारा दिया है। इस प्रसंगमें सखीकी सहायता बड़ी विदग्धता-पूर्ण है। 'मानस' में न यह सुंदरता ही आने पाई है, और न शिष्टता ही। 'पार्वतीमंगल' में बटुने जब अपना कथन समाप्त किया, पार्वती कहती हैं—

> आलि! बिदा करु बटुहि बेगि बड़ बरबर ॥ ६९ ॥
> भइ बड़ि बेर आलि कहुँ काज सिधारिहि।
> बकि जनि उठइ बहोरि। कुजुगति सवाँरहि ॥ ७३ ॥

अर्थात् 'आली! बटुको शीघ्र विदा करो यह बड़ा बकवादी है। . आली! इसे बक बक करते बड़ी देर हुई अच्छा होता कि यह कहीं अपना काम देखता। मुझे भय है कि यह फिर न बक उठे और कोई बुराई कर बैठे।'

इन शब्दोंमें कितने भाव भरे हुए हैं! सहृदय पाठक स्वयं देखें कि 'मानस' की मुहाँ मुही और 'पार्वतीमंगल' की इस वार्तामें उन्हें कौनसी अधिक प्रिय है।

'मानस' में सप्तर्षि परीक्षा लेकर अंतर्धान हो जाते हैं और 'पर्वतीमंगल' में शिव साक्षात् प्रकट होते हैं, दोनोंमें कितना अंतर है! तपस्याका फल, प्रेमकी प्रतिमा, प्राणोंकी अनंत याचनाका स्वरूप, एकमें नेत्रोंके आगे प्रत्यक्ष होरहा है और शिव कहते हैं—

> हमहिं आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ। पारबती तव प्रेम मोल मोहिं लीन्हेउ ॥ ८१ ॥

कितना प्रेम विभोर आत्म-समर्पण है। और, दूसरेमें दूरसे ही परीक्षाके प्रश्न-पत्र भेजे गए हैं।

जिसप्रकार 'कुमार-संभव' में (सर्ग ७, श्लो० ३२-३४) शिवजीने विवाहके अवसरपर अपना कुवेश बदल दिया है, और वे सुंदर शिव हो गए हैं, उसीप्रकार 'पार्वतीमंगल' में भी उन्होंने गणों-समेत रूप परिवर्तन किया है—

श्रीपति सुरपति बिबुध बात सब सुनि सुनि।
हँसहिं कमल कर जोरि मोरि मुख पुनि पुनि॥ १२३॥
लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भए सुंदर सत कोटि मनोज मनोहर॥ १२४॥
नील निचोल छाल भइ फनि मनि भूषन।
रोम रोम पर उदित रूप मय पूषन॥ १२५॥
गन भए मंगल बेष मदन मनमोहन।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन॥ १२६॥
संभु सरद राकेस नखतगन सुरगन।
जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुरजन॥ १२७॥

'मानस' में यह रूप परिवर्तन नहीं है, और शिव अंततक वैसेही कुरूप बने रहे हैं। उसमें नारद आते हैं और वे पार्वतीके माता पिताको समझाते हैं कि शिव परमेश्वर हैं और पार्वतीके पूर्व-जन्ममें भी उसके पति थे, अतएव उसका पाणिग्रहण शिवके साथ वे सहर्ष करा दें। नारदका वचन मानकर शिव-पार्वतीका विवाह बड़े आनंदपूर्वक कर दिया जाता है। यहाँपर भी 'मानस' और 'पार्वतीमंगल' की कथामेंसे किसमें अधिक सुंदरता है इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

गोस्वामीजीने 'जानकीमंगल' में सीता-राम विवाह लिखा ही था, सो जान पड़ता है कि शिव शिवा-विवाह भी सोहर छंदोंमें लिखनेकी उन्हें इच्छा बनी थी, उसीकी पूर्ति उन्होंने 'पार्वतीमंगल' की रचना करके की। जिसप्रकार 'मानस' में सीता-राम विवाह 'जानकीमंगल' की अपेक्षा कहीं सुघर रूप में बन पड़ा है, वैसे ही 'पार्वतीमंगल' में शिव-शिवा विवाह भी 'मानस' की अपेक्षा कुछ अधिक सुंदरता पूर्वक वर्णित हो सका है।

गीतावली

'गीतावली' के विषयमें वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै सोरह लगे, कामद गिरि ढिग बास।
सुभ एकांत प्रदेस महँ, आए सूर सु दास॥ २९॥

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नटनागर को।
पदरे दस बावन आन लग्यो। सुठि सुंदर पाठ सों गान लग्यो।
सिसु ताहि बनाइ गीत मगे। उर आनद सुन्दर भाव जगे।
जब सोरह से बसु बीस चढ्यो। पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ्यो।
तिसु रामगितावलि नाम धरयो। अरु कृष्णगितावलि राँचि सरयो॥ ३०॥

तात्पर्य यह है कि 'गीतावली' के पदोंका रचना सं० १६१६ से १६२८ तकके बीच हुई और उनका संग्रह सं० १६२८ में हुआ। इसप्रकार, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' गोस्वामीजीकी सर्व प्रथम रचनाएँ है। किंतु प्रत्येक विचार-शील पाठकको कदाचित् इस कथनके स्वीकार करनेमें संकोच होगा।

'मानस' तथा 'गीतावली' की कथाओंकी तुलना करनेपर कुछ स्थलों पर कथाभेद मिलते हैं। ऐसे कथाभेदोंका समाधान मुख्यतया चार प्रकारसे हो सकता है—

(१) गीति काव्यमें कथाओंकी त्रुटियाँ नहीं रक्खी जा सकतीं। वस्तु स्थिति यह है कि गीति काव्य कथाका उपयुक्त माध्यम हो नहीं सकता। हाँ यदि कथाकी एक सामान्य पृष्ठभूमि लेकर उसके विशेष स्थलोंपर भाव-व्यंजना यथासंभव तीव्र कर दी जाया करे तो गीति-काव्यका उद्देश्य किसी अंशमें अवश्य पूरा हो सकता है।

(२) कथनोपकथन भी गीति काव्यमें नहीं बन सकता, वह गीति काव्य की सभी विशेषताओंपर पानी फेर देता है।

(३) गीति-काव्यकी रचना स्फुट-शैलीपर होती है। किसी कथाकी पृष्ठभूमि लेकर यह संभव है कि एक कथांशकी पूर्तिके चार या छः या कुछ अधिक पद एक साथ निर्मित हों किंतु वास्तविक गीति काव्यमें ऐसी चेष्टा उसका महत्त्व घटा देगी। फलतः अधिकतर विभिन्न पदोंकी रचना विभिन्न समयोंपर होती है और वे पीछे एक सूत्रमें यथासंभव संगृहीत कर दिए जाते हैं। यदि कोई कथा उनकी पृष्ठभूमिमें होती है तो यह सूत्रीकरण सरल होता है। किंतु इसप्रकार, स्फुट-रचनामें यह अनिवार्य है कि कथाके कुछ अंश छूट जाया करें।

(४) उपर्युक्त समाधानोंकी अपेक्षा मुख्यतर कारण कविकी रुचि और उसके हृदयकी भावनाओंमें परिवर्तन है। यह परिवर्तन अधिकतर विकासकी ओर होता है। यदि कविकी रुचि एकसी बनी रहे और उसकी भावुकताका विकास न हो तो उसे क्या आवश्यकता है कि एक ही वस्तु वह भिन्न भिन्न छंदों तथा शैलियोंमें रखकर अपनी आयु तथा समाजका समय नष्ट करे। साधारण कवि,

कदाचित् आर्थिक लोभ अथवा सुयश-लाभकी आकांक्षावाले, सम्भव है ऐसा करें भी, किन्तु महाकवि इतने नीचे कदापि नहीं उतर सकता। नवीनता और मौलिकता उसके प्राण हैं। जिससमय वह देखेगा कि उसने अपना पूरा संदेश दे डाला है, वह मौन हो रहेगा।

नीचे हम 'मानस' की तुलनामें 'गीतावली' के मुख्य मुख्य कथाभेदोंपर विचार करेंगे और देखेंगे कि उनमेंसे कौन उपर्युक्त समाधानोंमेंसे किसके आश्रित हो सकता है—

'मानस' में स्वयंवरके प्रसंगमें जनक अपने निराश वचनोंका लक्ष्मण द्वारा उत्तर पाकर सकुचित होते हैं। विश्वामित्र उसी समय रामको धनुर्भंगके लिए आज्ञा देते हैं, जिसके पालनके लिए राम हर्ष विषाद-रहित उठ खड़े होते हैं, और रंगमंचपर बालसूर्य की-सी शोभा पाते हैं। किंतु, 'गीतावली' में विश्वामित्रकी आज्ञा तथा रामके रंगमंचपर खड़े होनेके बीच तीन पद आते हैं। प्रथममें जनक कहते हैं, 'आपने जो आज्ञा दी है उससे मेरे जीमें दुविधा है। आप ही विचारिए कि रावण तथा बाणासुर जिस धनुषको देखकर चले गए उसे तोड़नेके लिए इन सुकुमार बालकोंको कैसे कहा जाय। यह जो साहस ये कर रहे हैं इसमें या तो इन्हें आपके भरोसेका बल, अथवा कोई रहस्य, या कुलका प्रभाव, या केवल इनका लड़कपन है। यह भी सम्भव है कि विधिने कन्या, सत्कीर्ति तथा विश्वविजय कुल इन्हींके लिए निर्मित की हो। अस्तु, जो भी हो, रामकी बात जिसकी करतूतोंके आप ही मूल कारण हैं ईश्वर करे बनी रहे।'[1] ऐसा सुनकर विश्वामित्रने जनककी भूरि भूरि प्रशंसा की यही दूसरे पदका विषय है।[2] विश्वामित्रके इन वचनोंको सुनकर 'भगवानके हृदयमें कृपा-कामधेनु हुलसी किंतु प्रण शिशुको देखकर मर्यादा बंधनके भीतर ही रही।' फिरभी उनसे जनककी सराहना किए बिना न रहा गया यही तीसरे पदका विषय है।[3] यह सराहना बड़े महत्वपूर्ण शब्दोंमें की गई है। 'मानस' में यह कुल बीचका प्रसंग नहीं आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजीने 'मानस'-रचनाके पश्चात् किसीसमय यह अनुभव किया कि जनक ऐसे योगिराजकी यथेष्ट सराहना 'मानस' में भगवानने श्रीमुखसे नहीं की है जो एक त्रुटि सी है, दूसरे लक्ष्मणके दर्पपूर्ण वचनोंके बाद ही तुरंत विश्वामित्रके आदेशसे रंगमंचपर जाकर

[1] 'गीतावली,' बाल०, पद ८४
[2] वही, बाल०, पद ८५
[3] वही, बाल०, पद ८६

धनुषको तोड़ डालना आवेश मात्र सिद्ध करता है, जिसमें जनकके हृदयके दूर दूर होनेकी कोई परवा नहीं की गई है, इसलिए उन्होंने 'गीतावली' में उपर्युक्त प्रसंग और बढ़ा दिया। अतएव, 'गीतावली' का यह कथाभेद उपर्युक्त समाधानोंमें से थोथेपें बाधित जान पड़ता है।

एक दूसरा और विवादग्रस्त कथा-भेद परशुराम मिलनका है। 'मानस' में धनुर्भंगके पीछे ही सभामें परशुराम आते हैं, और लक्ष्मणसे उनका घोर वाद-विवाद होता है। किंतु 'गीतावली' में इस प्रसंगको महत्त्व नहीं दिया गया है, और उसमें यह अनुपस्थित है। अन्य प्रसंगोंमें परशुराम मिलनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

(क) दुसह रोषमूरति भृगुपति अति नृपति निकर खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय करी है बहुत मनुहारी॥ बाल० १०७
(ख) परसुराम से सूर सिरोमनि पल में भए खेत के खाते॥ सुंदर० १०
(ग) सुभट सिरोमनि कुठारपानि सारिखेहू
लखी औ लखाई इहाँ किए सुभ साखें॥ सुंदर० २५
(घ) ब्याही जेहि जानकी जीति जग हर्यो परसुधर दापु॥ लंका० १
(ङ) परसुराम जिते जिन्ह महामुनि जे चितए कबहूँ न कृपा कै॥ उत्तर० १३
(च) जनकसुता समेत गृह आवत परसुराम अति मदहारी॥ उत्तर० ३८

ऊपरके प्रथम पाँच उल्लेख घटनापर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डालते केवल छठा और अंतिम उद्धरण यह कहता है कि परशुरामसे बारातके लौटते समय मार्गमें भेंट हुई। किन्तु, यह अंश जिस पदका है वह 'विनयपत्रिका' की सं० १६६६ की एक हस्तलिखित प्रतिका ८१वाँ पद है।[1] उस प्रतिके पाँच पद इस समय 'विनयपत्रिका' में न मिलकर 'गीतावली' में मिलते हैं। इन पदोंमें दैन्य अथवा विनयकी भावनाके स्थानपर वर्णन कथा-वर्णन अथवा वस्तु-वर्णनकी भावना प्रधान है, कदाचित् इसीलिए इनका निर्वासन 'विनयपत्रिका' से हुआ और इन्हें 'गीतावली' में रख दिया गया। इन्हीं पाँच पदोंमेंसे एकमें पूरा रामचरित संक्षेपमें वर्णित है, और उसी पदसे यह परशुराम-गर्व हरण-संबंधी छठा उद्धरण लिया गया है। अतएव, 'गीतावली' के रचना-काल निर्धारणमें यह विशेष महत्व नहीं रखता। अथवा यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लिया जाय कि यह पद 'गीतावली' में भी पहले से ही था तो उसका समाधान यह है कि 'गीतावली' स्फुट-रचना है। यह पद निस्संदेह 'मानस' से पूर्व रचा गया होगा और संग्रहके समय यह भी रख लिया गया होगा।

[1] इस प्रति के संबंधमें विशेष चर्चा इसी लेख में आगे 'विनयपत्रिका' के रचना-काल-संबंधी विवेचन में देखिए।

किंतु पूरे परशुराम-प्रसंगके छोड़ देनेके दो कारण संभव हैं। प्रथम तो यह कि 'गीतावली' के स्फुट-रचना होनेके कारण यह छूट गया हो—अर्थात् उपर्युक्त समाधानोंमें से तीसरा—अथवा यह भी संभव है कि यह जान-बूझकर न रक्खा गया हो। इस पिछली अवस्थामें दो बातें हो सकती हैं, प्रथम तो यह कि गीति-काव्य, और विशेषतः पद्योंमें कथोपकथन जँचता नहीं, अर्थात् उपर्युक्त समाधानों-में से दूसरा; और दूसरे यह भी संभव है कि गोस्वामीजीने कदाचित् यह अनुभव किया हो कि परशुराम जैसे अवस्था तथा ख्यातिमें श्रेष्ठ व्यक्तिका भरी सभामें जैसा व्यंग्य और परिहास-पूर्ण उत्तर देकर लक्ष्मणने सत्कार 'मानस' में किया है, वह ऐसे श्रेष्ठ समाजको ध्यानमें रखते हुए जिसमें पृथ्वीमंडलके नरेश एकत्र थे, कुछ लड़कपन सा लगता है, अर्थात् उपर्युक्त समाधनों में से चौथा। परशुराम साधारण व्यक्ति न थे। उनकी गणना अवतारोंमें की जाती है, इस दशामें क्या एक राजकुमार के मुँह से वह शब्दावली शोभा देती है, जिसके द्वारा 'मानस' में लक्ष्मणने उनका सत्कार किया है?

'गीतावली' में राम लक्ष्मणके अतिरिक्त अन्य दो भाइयोंके विवाहका भी उल्लेख नहीं है। इसका कारण निश्चय ही उपर्युक्त समाधानों में से तीसरा है।

वन जाते हुए 'मानस' में जो सुंदर संवाद केवट तथा रामके बीच हुआ है, और भरतकी चित्रकूट-यात्रामें केवटोंने जो मार्गावरोधका प्रयत्न किया है, दोनों 'गीतावली' में नहीं हैं। इसका समाधान उपर्युक्तों से कदाचित् पहले कारणसे होता है।

इसीप्रकार 'गीतावली' में राम तथा निषादके मिलनेका भी प्रसंग नहीं आया है। किंतु इसका कारण तीसरा समाधान ज्ञात होता है, क्योंकि भरतका निषादसे मिलन वर्णन करते हुए निषादको 'राम-सखा' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है, और उसने भरतको रामके कुशलका सब समाचार भी दिया है—

> ता दिन शृंगवेरपुर आए।
> रामसखा ते समाचार सुनि बारि बिलोचन छाये॥ अयोध्या० ६८

चित्रकूटमें राम और लक्ष्मण केवल दोनों भाइयोंसे मिलते हैं। माताओंसे भी इनकी भेंटका कोई उल्लेख नहीं हुआ है। किंतु माताएँ, कमसे कम कौशल्या अवश्य चित्रकूट गई थीं, जैसा पुत्रवियोगसे व्यथित होनेपर वे कहती हैं—

> हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।
> लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥ अयोध्या० ८४

अतः इस कथा भेद का उत्तरदायित्व उपर्युक्त समाधानोंमें से कदाचित् तीसरे पर है।

चित्रकूटमें वशिष्ट तथा जनक भी अनुपस्थित हैं। किंतु इनका न रहना उपर्युक्त समाधानोंमें से चौथेके कारण जान पड़ता है।

'गीतावली' में, चित्रकूटमें रामने जिन शब्दोंमें अपनी परिस्थितिका परिचय दिया है, यथा—

> सिर धरि आयसु करिय तुम्हारो। संभव कौन काज को सारो।
>
> दोउ न जरनि मिटि दशरथ तें बैठि मास, बरस सठि पति पाई॥ अयोध्या० ७२

—उन्हें पढ़नेके अनन्तर 'मानस' की शिष्टाचार प्रचुरता और धर्म महत्वकी उत्तमतें फीकी लगती है, और गीतिकाव्यकी तीव्र-व्यंजनाके सामने महाकाव्यके भावद्वंद्वोंकी आभा क्षीण होजाती है। 'गीतावली' में चित्रकूट-सभा नहीं है, उसमें दो हृदय निस्संकोच एक दूसरेसे प्रतिबिंबित होते हैं, और करुणाका एक सागर लहराता हुआ हमारी दृष्टि में आता है। भरतको 'गीतावली' में कोई वकील न मिलनेके कारण, जिन शब्दोंमें अपनी दारुण दशाका चित्र खींचना पड़ा है, उनसे घोर आंतरिक वेदना अपार नैराश्य तथा गहरी व्याकुलता स्पष्ट झलकती है। 'मानस' तथा 'गीतावली' के चित्रकूटोंके वातावरण एक-दूसरे से भिन्न हैं—'मानस' की नागरिक शिष्टाचार प्रचुरताके स्थानपर 'गीतावली' में हम वन्य सरलता मिलती है।

'गीतावली' में राम लक्ष्मणादिके चित्रकूटसे पंचवटी प्रस्थानकी सूचना निषादराजने भरतको एक पत्रिका द्वारा दी है।[१] 'मानस' में ऐसा नहीं है। गीतावली में कई स्थलोंपर कौशल्या पुत्र वियोगसे अत्यंत व्यथित चित्रित हुई है, और इस विषयमें 'मानस' में चित्रित विवेकमयी कौशल्यासे वे नितान्त भिन्न हैं। 'गीतावली' में वे तीन बार हमें अधीर होती दिखाई पड़ती हैं। किन्तु पहली बार जब वे पुत्र वियोगसे व्यथित हुई हैं तो सतानंद द्वारा राम विवाह का निमंत्रण पाकर पुलकित हुई हैं। दूसरी बार जब वे ऐसीही व्यथित हुई हैं तो निषादराजकी इस पत्रिकाने उन्हें सांत्वना दी है। और तीसरी बार वे अवधि के अंत में जब व्याकुल हुई हैं तब हनुमानने राम लक्ष्मणके आगमनका समाचार देकर उन्हें गद्‌गद किया है। इसप्रकार गोस्वामीजीने गीतावली में विरह व्यथा और सांत्वना एकके पीछे दूसरी इतनी सुंदरतासे रक्खी है कि निस्संदेह इसमें उनकी सुरुचि और प्रतिभाका विकास झलकता है। अतएव, निषादराजका यह पत्री उपर्युक्त चौथे समाधानके कारण जान पड़ता है।

---

[१] गीतावली अयोध्या० पद ९

'मानस' में सीताहरणके उपरांत जब रामने लौटकर कुटीको जानकी-हीन देखा है तो वे अत्यंत व्याकुल हुए हैं, और लक्ष्मणके बहुत समझानेपर भी चेतनाने उनका पूरा साथ नहीं दिया है, और वे लता-पत्रोंसे पूछते हुए चले हैं। किंतु 'गीतावली' में मारीच-वधके परचात् अपनी कुटीपर लौटनेपर रामको देव-ताओं-द्वारा सीताकी 'सुधि' मिलनेका उल्लेख हुआ है—

देखे खगनिगति बिबुध बिकल अति
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो तौ लौं है सोच खरोसो
सिय समाचार प्रभु जौ लौं न लहे ॥ अरण्य० १०

जब सिय सुधि सब सुरनि सुनाई।
भए सुनि सजग बिरहसरि पैरत थके थाह सी पाई॥
कसि तूनीर तीर धनु धर धुर धीर बीर दोउ भाई।
पंचवटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहनी लाई॥
चले बूझत बन बेलि बिटप खग मृग अलिअवलि सुहाई ॥ अरण्य० ११

देवता, जिनके त्राणके लिए राम यह कुल कष्ट झेल रहे थे, जानते हुए भी यदि सीताकी 'सुधि' न देते तो उनका-सा कृतघ्न और कौन होता; इसके अतिरिक्त, उनकी अर्थ-सिद्धि भी तो यह सूचित करने में थी कि सीताका हरण करनेवाला रावण ही था जो उन सबका भी शत्रु था। यह कथाभेद कदाचित् जान-बूझकर किया गया है, फलतः इसका कारण उपर्युक्तमेंसे चौथा समाधान जान पड़ता है।

बालि-वध तथा सुग्रीव-मैत्रीके प्रसंग 'गीतावली' में नहीं हैं, यद्यपि इनका उल्लेख अन्य प्रसंगोंमें कई स्थलोंपर हुआ है। अतएव, इस त्रुटिके लिए कदाचित् उपर्युक्त तीसरा समाधान ही उत्तरदायी है।

हनुमानजीसे लंकामें विभीषणकी भेंटका भी प्रसंग 'गीतावली' में नहीं आया है, किंतु विभीषणकी शरणागतिके प्रकरणमें हनुमान कहते हैं—

हिय बिहँसि कहत हनुमान सों।
सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों।
हौं बलि जाउँ और को जानै कही कपि कृपानिधान सों॥ सुंदर० ३३

हनुमानका रामसे कहना कि "मेरे अतिरिक्त विभीषणको कौन जानता होगा?" इस बातकी ओर संकेत अवश्य करता है कि हनुमानको विभीषणका परिचय इस कथनसे पूर्व हुआ था। यह परिचय सीताकी खोजमें लंका जानेपर

भी हो सकता होगा, अतएव यह कथाभेद उपर्युक्त समाधानोंमें से पहले या तीसरेके कारण होगा।

'गीतावली' में, हनुमानके संमुख न त्रिजटासे सीताकी अग्नियाचनाका प्रसंग आया है, और न रावणसे उनका संवाद ही। किंतु, दूसरेका दो स्थलों-पर इसप्रकार उल्लेख हुआ है—

(क) कहनि कटु बानी कुटिलकी क्रोधविंध्य बढ़ोइ।
सकुचि सम भयो ईसआयसु कलसभव जिय जोइ ॥ सुंदर० ५
(ख) मैं सुनी बातैं असैली जे कही निसिचर नीच।
क्यों न मारै गाल बैठो काल डाढ़न बीच ॥ सुंदर० ६

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कथाभेदका कारण उपर्युक्त समाधानोंमें से प्रथम अथवा तृतीय है।

सीता-मुद्रिका-संवाद 'मानस' में नहीं है, और 'गीतावली' में है। यह संवाद यद्यपि कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता है, फिरभी इस कथाभेदके लिए कविकी रुचि ही उत्तरदायी जान पड़ती है। फलतः यह कथाभेद उपर्युक्त चौथे समाधानके आश्रित होगा।

विभीषण रामकी शरणमें जानेसे पूर्व, 'गीतावली' में, मातासे मिलकर कुबेरके पास जाता है। कुबेर विभीषणका भाई लगता था, और वह भगवद्भक्त भी था। उसके यहाँ शिव-ऐसे परम-भागवत आया करते थे। अतएव, विभीषणके लिए कुबेरकी सम्मति लेना स्वाभाविक ही था, क्योंकि भाई होनेके अतिरिक्त वह अपनी ही प्रकृतिका भी था। विभीषणके लिए रावणकी लात खानेके अनंतर यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने बड़े भाईके शत्रुकी शरणमें चला जाता। विभीषणके चरित्रपर अधिकतर जो कलंक लगाया जाता है वह उसके सीधे रामकी शरणमें जानेके कारण है, किंतु 'गीतावली' में यह त्रुटि भलीभाँति दूर कर दी गई है। 'गीतावली' में विभीषण भाईकी लात खाकर पहले माताके पास गया। माताने तो समाधान किया और कहा, 'क्या हानि हुई, यदि रावणने लात मारी। वह तेरा बड़ा भाई है, पिताके समान है, यातुधान-कुलका तिलक है, उसके अपमान करनेसे भी तेरी बड़ी बड़ाई है।' किंतु इससे विभीषण को शांति नहीं मिली। माताने उसे ग्लानिसे संतप्त जानकर उसका सम्मान किया और शिक्षा दी, 'रोष करनेसे दोष और सहन करनेसे भला होता है।' फिरभी विभीषणको संतोष न हुआ। तब माताने कहा, 'यहाँसे विमुख होकर रामकी शरण में जानेपर भलाई थोड़ी है, किंतु लोक-मर्यादाकी रक्षा करनेसे अत्यंत हित होगा।' विभीषणको उस थोड़ीसी भलाईमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक-

सुखकी आशा हुई, और उसने देखा कि माता उसे एकदम रोक भी नहीं रही थी, इसलिए वह माताके चरणोंमें सिर झुकाकर चल पड़ा।[1] फिर उसे कुबेरका ध्यान आया। इसलिए वह कहता है—

कृपानिधि को मिलौं पै मिलि कै कुबेरै॥ सुंदर० २७

कुबेरसे तो वह मिला ही, संयोग-वश शंकर भगवान भी वहाँ आ उपस्थित हुए। भक्ति-भावना विभीषणके हृदयमें तरंगित होरही थी, फिरभी उसके हृदयमें कुछ असमंजस था। शंकरने यह ताड़ लिया, और कहा—

रामकी सरन जाहि सुदिन न हेरै॥ सुंदर० २७

'रामकी शरणमें शीघ्र जा, उसके लिए सुअवसरकी प्रतीक्षा अनावश्यक है।' वह तैयार हो गया। इसप्रकार 'गीतावली' में विभीषण माताकी, भाईकी, तथा शंकरकी अनुमति लेकर रामकी शरणमें जाता है, अतएव, वह स्वार्थांधता, ईर्षा आदि उन सभी आक्षेपोंसे बच जाता है जिनसे वह अन्यथा दोषी ठहरता। यह कथा-भेद उपर्युक्त समाधानोंमे से चौथेके आश्रित जान पड़ता है।

लक्ष्मण-शक्तिके अनंतर हनुमान संजीवनी लाते समय भरतके बाणसे आहत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े हैं। 'मानस'में इस समय माताएँ अनुपस्थित हैं, किंतु 'गीतावली' में माताएँ भी हैं। सुमित्राने लक्ष्मण-शक्तिका समाचार पाकर जो कुछ कहा है वह एक वीर-प्रसू माताका आदर्श उपस्थित करता है। 'मानस' में वह नहीं है। 'गीतावली' में एक ओर उसका एक लाल समरक्षेत्र में धराशायी है—यद्यपि उसे यह संतोष है कि उसने अपने स्वामीकी सेवामें यह बलिदान किया है—दूसरी ओर वह अपने दूसरे लालको भी समरक्षेत्रमें जानेके लिए आदेश करती है—

सुनि रन घायल लखन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं।
सुवन सोक संतोष सुमित्रहिं रघुपति भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं।
कपि सों कहति सुभाय अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर यद्यपि धनु दुसरे हैं।
तात जाहु कपि संग रिपुदमन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं।
अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥ लंका० १३

[1] 'गीतावली', सुंदर०, पद २६

दो विरोधी भावोंके अनुभाव कितनी सूक्ष्मतासे चित्रित किए गए हैं! कविकी प्रतिभा जितनी इस स्थानपर प्रस्फुटित हुई है, उतनी उसकी कुल कृतियोंमें भी कदाचित् अधिक स्थलोंपर न मिलेगी। फलतः, इस कथाभेदका कारण भी उपर्युक्तमें से चौथा समाधान जान पड़ता है।

'गीतावली' के उत्तरकांडमें राघवका हिंडोला[1] तथा फाग[2] वर्णित हैं। इसका कारण कदाचित् गोस्वामीजीका उस समयके कृष्ण-साहित्यसे प्रभावित होना है। अयोध्या-कांडमें चित्रकूटका वर्णन करते हुए 'चाँचरि' की उत्प्रेक्षाका आश्रय लिया गया है[3] और हनुमान्-द्वारा लंका दहनके दृश्यको भी फागके रूपमें कल्पना की गई है।[4] 'गीतावली' की इन सब विशेषताओंपर तत्कालीन कृष्ण साहित्यका प्रभाव स्पष्ट है। सूरदासके 'सूरसागर' की रचना गीतावली के पूर्व होचुकी थी और इसमें सदेह नहीं कि इस ग्रंथपर उसका स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है, यहाँतक कि 'गीतावली' में 'सूरसागर' के कई पद कुछ शब्दोंके हेर फेरके साथ हमें मिलते हैं। वेणीमाधवदासने तो लिखा है कि 'गीतावली की रचना ही गोस्वामीजीने 'सूरसागर' देखकर की।[5] यदि हम इसे न स्वीकार करें तोभी 'गीतावली' 'सूरसागर' से प्रभावित है इसमें सदेह नहीं किया जा सकता। फलतः इस कथाभेदका कारण भी उपर्युक्त चौथा समाधान जान पड़ता है।

'गीतावली' का अंतिम मुख्य कथा भेद यह है कि उसमें सीताके निर्वासन[6], लव और कुशके जन्म तथा उनकी छठी, बारहीं और बाल-क्रीड़ाके भी वर्णन हैं जो 'मानस' में नहीं हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कविने 'गीतावली' में एक-बार राम सीताके जीवनका वह अंश भी चित्रित करना चाहा था, जिसे वह 'मानस' में न कर सका था और कुछ दूर गया भी किंतु कदाचित् उसकी सुकुमार लेखनी रामके पैरोंतले रौंदे हुए सीताके दुखी जीवन तथा दंपतिके नैराश्यपूर्ण आत्मघातका चित्रण न कर सकी और वह चुप होकर बैठ रहा। इन कथाभेदोंका कारण भी उपर्युक्त चौथा समाधान ही जान पड़ता है।

---

[1] 'गीतावली', उत्तर० पद १८

[2] वही, उत्तर०, पद २१ तथा २२

[3] वही, अयोध्या०, पद ४७ ४८ तथा ४९

[4] वही, सुंदर० पद १६

[5] 'मूल गोसाईंचरित', दो० ३०

[6] 'गीतावली' में लक्ष्मण सीताको वाल्मीकिको सौंप आए हैं, जबकि 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रघुवंश' में वे सीताको गंगाके पार उतार और मुनिके आश्रमका मार्ग बताकर चले आए हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में सीताका समाचार मुनि शिष्योंसे पाकर और 'रघुवंश' में उनका रोना सुनकर उन्हें अपने आश्रम में ले गए हैं।

इसप्रकार, 'मानस' की तुलनामें 'गीतावली' के कथाभेदों और उनके समाधानोंपर विचार करनेसे स्वतः हमारी यह धारणा हो जाती है कि 'गीतावली' 'मानस' से पीछेकी रचना है। नीचे हम 'गीतावली' की कुछ अन्य प्रमुख विशेषताओंपर भी विचार करेंगे।

'मानस' में राम-लक्ष्मणादिकी बाल्यावस्था तथा माताओंकी ममता-मयी प्रकृतिका यथेष्ट चित्रण नहीं हुआ है, किंतु 'गीतावली' में ये दोनों ही पूर्ण-रूपसे चित्रित हुए हैं, विशेषतः मातृ-पक्ष।

बाललीलाका साधारण परिचय हमें इसप्रकार मिलता है—

आज सवेरेसे ही राम अनमने हैं, और भलीभाँति दूध नहीं पीते हैं, ऐसा समझा जाता है कि किसी दुष्टा स्त्रीने नज़र लगा दी है। शीघ्र ही वशिष्ठजी बुलाए जाते हैं और वे झाड़-फूक करते हैं। रामके मस्तकपर उनके हाथ रखते ही राम किलकने लगते हैं।[१]

वशिष्ठजी 'गीतावली' में 'अथर्वणी' की भाँति चित्रित हैं—

भए बशिष्ठ अथर्वणी महिमा जग जानी॥ बाल० ६

आगमियोंका बड़ा मान है—यही सोचकर शंकरजी भी एक वृद्ध ब्राह्मणका वेश धारणकर राजकुमारोंका हाथ देखनेके बहाने रामका दर्शन करनेको उपस्थित होते हैं।[२]

बालकोंको सुलानेके लिए अच्छी-अच्छी लोरियाँ सुनाई जाती हैं।[३] वे पालनेपर झुलाए जाते हैं।[४] जब वे कुछ बड़े होते हैं, और आँगनमें खेलने लगते हैं, तो माताएँ उनकी क्रीड़ासे निरंतर आनंदित होती हैं।[५] बालोचित आभूषणादिसे राज-कुमार आभूषित किए जाते हैं।[६] वे सबेरे सुमधुर प्रभातियों द्वारा जगाए जाते हैं।[७] जब वे और बड़े होते हैं, वे कभी अवध की गलियोंमें विहार करते हैं, कभी छोटी-छोटी धनुहियाँ और तीर लिए हुए निकल पड़ते हैं, और कभी चौगान खेलते हैं।[८]

---

[१] 'गीतावली,' बाल०, पद १२
[२] वही, बाल०, पद १४
[३] वही, बाल०, पद १६ १७, और,१८
[४] वही, बाल०, पद १५, १९, २० और २१
[५] वही, बाल०, पद २३, २७ और २८
[६] वही, बाल०, पद २९, ३० और ३१
[७] वही, बाल०, पद ३३, ३४, ३६ और ३७
[८] वही, बाल०, पद ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३ और ४४

इस प्रकार गीतावलीमें भी मातृ-पक्षकी झलक अवश्य मिल जाती है, किंतु उसका पूर्ण परिचय माताओंके राम लक्ष्मणसे वियुक्त होनेपर मिलता है।

'मानस' की कौशल्या एक विवेकमयी माता हैं। भगवानने शतरूपाको वर देते हुए कहा था[1]—

मातु विवेक अलौकिक तोरे। मिटिहि न कबहुँ अनुग्रह मोरे॥

और 'मानस' में इस वचनकी पूर्ण रक्षा की गई है। एवं जीवनभरमें कौशल्या जभी मोहके अभिभूत होनेको होती हैं तुरत विवेक उन्हें उसके बाहर कर देता है। इसप्रकारका निर्वाह गोस्वामीजीने 'मानस'-जैसे कथा-काव्यमें तो पूरा-पूरा किया है, किंतु 'गीतावली' में भी यदि वहीं उन्होंने ऐसा ही प्रयत्न किया होता तो निश्चय ही 'गीतावली' को गीतिकाव्य कहना कठिन हो जाता, क्योंकि 'गीतावली' में रसका परिपाक तीव्र व्यंजनाकी भित्ति पर इने-गिने स्थलोंपर ही हो सका है, और इन इने गिने स्थलोंमें कौशल्याके पुत्र विरह-संबंधी उद्गारोंका स्थान सर्वप्रमुख है।

कौशल्याके ऐसे उद्गार तीन बार आए हैं—

(क) जब राम लक्ष्मण विश्वामित्रके साथ चले गए थे।[2]

(ख) भरतादिके चित्रकूटसे बिना रामके लौटे लौटनेके उपरान्त।[3] तथा

(ग) वनवासकी अवधिके अंतमें।[4]

जैसी वेदना और जैसा मातृ हृदय इन थोड़ेसे पदोंमें भरा है, वह अपूर्व है। 'गीतावली' में जो सरसता है, उसके अधिकांशका श्रेय इन्हींको है। पहली बारकी विरह-व्यथा शतानंदके द्वारा सीता-राम विवाहका संदेश पाकर शान्त हुई है। फिरभी, राम-लक्ष्मणके जनकपुरसे लौटनेपर जननी हृदय जैसा पुलकित हुआ है,[5] वह पढ़ने ही योग्य है। दूसरी बारकी वियोग-व्यथा निषाद-राजके उस पत्रसे शांत हुई है जिसे उन्होंने भरतके पास भेजा था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है। तीसरी बार जब अवधिके अंतमें वे पुत्र वियोगसे व्यथित हुई हैं, तब राम लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें शांति प्राप्त हुई है।[6] कहाँ 'मानस का निस्संदेह विवेकमय किंतु कुछ अस्वाभाविक मातृ पक्ष और कहाँ 'गीतावली' का

[1] 'मानस' (रामदास गौड़का संस्करण), बाल०, दो० १५१
[2] 'गीतावली', बाल०, पद ९७, ९८ और ९९
[3] वही, अयोध्या०, पद ८३, ८४, ८५ ८६ और ८७
[4] वही, लंका०, पद १७, १८, १९ और २०
[5] वही, बाल०, पद १०७ और १०८
[6] वही, लंका०, पद १९ और २०

वात्सल्य प्रचुर और नितांत स्वाभाविक जननी हृदय ! दोनोंमें कितना अंतर है ! 'गीतावली' के अन्य चरित्रोंमें भी 'मानस' के चरित्रोंकी अपेक्षा कुछ-न-कुछ इसी प्रकारका अंतर मिलता है।

'गीतावली' में सुमित्राका चरित्र आदर्श वीर-माताका है, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है। 'मानस' में यह कहाँ है ? कैकेयीका चरित्र जैसा 'मानस' में अंकित है, उसे पढ़नेपर हमारे हृदयमें उसके प्रति घृणाका संचार होता है, और हम मुँह फेर लेते हैं, और बार-बार सोचते हैं कि क्या एक सचरित्रका इतना भी पतन संभव है, और अंतमें संसारसे दुराशा और नारी-जातिपर अविश्वास-की भावनाएँ प्रबल होती हैं। किंतु, 'गीतावली' की कैकेयीमें उतनी भयंकरता नहीं है।

'मानस' में, राम ब्रह्म है और मानव शरीर धारणकर नर लीला कर रहे हैं—यह स्थान-स्थानपर कहा गया है देवताओं, ऋषियों, तथा मुनियों द्वारा उनकी स्तुति भी स्थान स्थानपर कराई गई है, किंतु 'गातावली' में यह नहींके बराबर है।

लक्ष्मणका चरित्र 'मानस' में एक उद्धत राजकुमारका सा है किंतु 'गीता वली' में ऐसा नहीं है। वास्तवमें 'मानस' में लक्ष्मणके चरित्रके साथ पूरा न्याय नहीं किया गया है, भरतको रामने स्थान स्थानपर सबसे अधिक प्रिय माना है, और अयोध्याकांडमें तो उत्तरार्द्धके वे ही नायक हो गए हैं। किंतु, 'गीतावली' में ये बातें नहीं हैं। 'गीतावली' में लक्ष्मणके चरित्रके साथ पूरा न्याय हुआ है। उन्हें शक्ति लगनेपर राम कहते हैं—

सेवक सखा भाति भायप गुन चाहत अब अथए हैं। लंका० ५

लक्ष्मणके त्याग, बलिदान तथा स्वामिभक्ति-पूर्ण चरित्रका महत्व 'मानस' की अपेक्षा 'गीतावली' में ही विशेष रूपसे समझा गया मालूम पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, 'मानस' में, लक्ष्मणके चरित्रका एक दृश्य, जिसकी कोमलताके प्रतिस्पर्द्धी कम मिलगे, नहीं है और 'गीतावली' में वह निस्संदेह अनुपम ढंगसे उपस्थित किया गया है। इस दृश्यसे न केवल लक्ष्मणका वरन् सीताका भी चरित्र निखर गया है। कितना विरक्त देनेवाला है सीता—गर्भिणी सीता—के निर्वासन का दृश्य !

जब लक्ष्मण सीताको मुनिके आश्रममें छोड़ कर लौटने लगे, तब सीताने कहा—'हे कृपालु लक्ष्मणलाल, मुझे नितात न भुला देना। राज-धर्म ही समझ-कर सभी तपस्विनी स्त्रियों की भाँति मेरा भी पालन करना।'[1] ऐसा कहनेके

[1] 'गीतावली', उत्तर०, पद २९

उपरान्त सीताके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे और लक्ष्मण व्याकुल हो उठे। कोई उत्तर नहीं निकलता था। उन्होंने विधिको अपने प्रतिकूल माना कि ऐसे अवसरपर भी उनके प्राण न निकले। वे मौन ही सीताके चरणोंको छूकर और उनका आशीष लेकर लौटे और उन्होंने यह अनुभव किया कि एकबार उन्होंने सीताको जो कठोर वचन कहे थे, उसके पापका परिताप इन्हें सहन करनेसे ही शान्त हो सकता था।[1] मौन ही बार-बार वे सीताके चरणोंमें पड़कर लौटे। मन पश्चात्तापसे निमग्न था, और रथ मानों उन्हें दुराकर भगा लिए जा रहा था। वे अपने मनमें कहने लगे, 'वनमें बिना भोजन, रणमें बिना कर्मके मैं बुरे आपापोंसे बचता रहा। हनुमानने भी व्यर्थ वेदना ही सहन करनेके लिए मुझे जिलाया। मैं ही पिछली बार सीता-हरणका हेतु हुआ और इसबार भी उनके निर्वासनमें सहायक हुआ। मेरी दारुण कृतियोंके लिए दैव नित्य ही हमारे दाहिने होता है। जिनके लिए जटायु गृध्रने युद्ध करके प्राणोत्सर्ग किया, उनको मैं वनमें पहुँचाकर अयोध्या स्वभावतः चला आ रहा हूँ। मुझे विधाताने ही पाषाण-हृदय और क्रूरकर्मा बनाया। कृपानिधान रामने अपना दास जानकर मुझे शरणमें रक्खा (अन्यथा मेरे ऐसे कुटिल व्यक्तिको कौन स्थान देता!)।[2] लक्ष्मणका यह पश्चात्ताप-पूर्ण चित्र कितनी कोमल तथा सुकुमार अनुभूतिका परिचायक है! 'मानस' में यह सुकुमारता और कोमलता लक्ष्मणके चरित्र में कहाँ है? उसमें लक्ष्मण एक उद्धत राजकुमार, साहसी सैनिक, दृढ़ युवक, स्वामिभक्ति-परायण सेवक तथा त्यागकी मूर्ति अवश्य हैं, किन्तु 'गीतावली' के लक्ष्मण उत्तर कथाके नायक हैं, क्योंकि एक पश्चात्ताप पूर्ण कोमल और सुकुमार हृदय उनके कठोर वक्षस्थलकी ओटमें पड़ा हुआ उनके पूरे जीवनको अनुशासित कर रहा है।

इसप्रकार, जब हम 'गीतावली' के चरित्र चित्रणकी ओर देखते हैं तो उसमें 'मानस' का आदर्शवाद ढीला पड़ा हुआ ज्ञात होता है, चरित्रोंकी अलौकिकता दूरकर उन्हें वास्तविक मानव रूपमें चित्रित करनेकी ओर झुकाव 'गीतावली' में हम आदिसे अन्ततक पाते हैं। फलतः 'गीतावली' में चरित्र चित्रण 'मानस' की अपेक्षा एक सुकुमार लेखनीसे किया गया है, यह अत्यन्त स्पष्ट है।

'गीतावली' में अनेक स्थलोंपर 'मानस' की शब्दावलीका प्रयोग हुआ है, और कहीं-कहीं तो वाक्यविन्यास भी उसीका आया है, यथा—

---

[1] 'गीतावली', उत्तर०, पद २०

[2] वही, उत्तर०, पद २१

गीतावली—कन्या कल कीरति विजय विश्व की बटोरि बाल० ८४

मानस—दोहा—कुँवरि मनोहरि विजय बड़ि कीरति अति कमनीय॥ बाल० २५१

गीतावली—जो सुत तात बचन पालन रत जननिहुँ तात मानिबे लायक॥ अयोध्या० ३

मानस—जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ अयोध्या० ५६

गीतावली—हौं पुनि पितु आज्ञा प्रमान करि ऐहौं बेगि सुनहु दुति-दामिनि॥ अयोध्या० ५

मानस—मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी॥ अयोध्या० ६१

गीतावली—हौं रहौं भवन भोग लोलुप ह्वै पति कानन कियो बनको साजु।

तुलसिदास ऐसे बिरह बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु॥ अयोध्या० ६७

मानस—मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू।

दोहा—ऐसेहु बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान॥ अयोध्या० ६७

गीतावली—दिनकर बंस पिता दसरथ से राम लखन से भाई।

जननी तू जननी तो कहा कहौं बिधि केहि खोरि न लाई॥ अयोध्या० ६०

मानस—दोहा—इस बस दसरथ जनक राम लखन से भाइ।

जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥ अयोध्या० १६१

गीतावली—तातें हौं न देत दूषन तोहूँ।

राम बिरोधी उर कठोरतें प्रगट कियो बिधि मोहूँ॥ अयोध्या० ६१

मानस—दोहा—राम बिरोधी हृदयतें प्रगट कीन बिधि मोहि।

मो समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहि॥ अयोध्या० १६२

गीतावली—जद्यपि मोतें कै कुमातुतें ह्वै आई अति पोची।

सनमुख गये सरन राखहिंगे रघुपति परम सँकोची॥ अयोध्या० ६५

मानस—जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी।

तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥ अयोध्या० १८०

गीतावली—मेरो सुनियो तात सदेसो।

सीयहरन जनि कहेउ पिता सों ह्वैहै अधिक अदेसो।

रावरे पुन्य प्रताप अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं।

कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहैं॥ अरण्य० १६

मानस—दोहा—सीताहरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ।

जौं मैं राम तो कुलसहित कहिहि दसानन आइ॥ अरण्य० ३२

गीतावली—सोचत नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन कोर॥ सुंदर० २०

मानस—सोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपिन कर सोना॥

गीतावली—हौं हा दसन तोरिबे लायक कहा करौं जो न आयसु पायो॥ लंका० ४

मानस—मैं तब दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन रघुनायक॥ लंका० ३४

गीतावली—होतो जौ नहिं जग जनम भरत को।
तौ कपि कहत कृपानधार मग चलि आचरत बरन को।
धीरज धरम धरनिधर धुर तें गुरु धुर धरनि धरन को॥ लंका० ११

मानस—जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ अयोध्या० २३३

उपर्युक्त प्रकारका साम्य तीन दशाओंमें संभव होता—

(क) यदि 'गीतावली' की रचना 'मानस' के साथ-साथ हुई होती। किंतु 'गीतावली' तथा 'मानस' की कथाओं तथा चरित्र-चित्रण आदिमें इतना अंतर होते हुए—जैसा हम अभी देख चुके हैं—यह कल्पना निराधार होगी।

(ख) यदि 'गीतावली' की रचना 'मानस' से पूर्व हुई होती। किंतु, यह पहली कल्पनासे भी अधिक निराधार है, क्योंकि एक-तो जो कथाभेद तथा चरित्र-चित्रणोंमें अंतर हमने ऊपर देखे हैं, उनसे 'गीतावली' में 'मानस' की अपेक्षा इन विषयोंमें सुधार लक्षित होता है, दूसरे, यह असंभव ज्ञात होता है कि 'गीतावली' में पहले पूरी कथाका प्रबंध बीसों बृहद् ग्रंथोंके अध्ययनके बाद बाँधकर तब 'मानस' में उसे पीछे रक्खा गया हो। यदि 'गीतावली' में प्रबंध-निर्माणका प्रयास होता तो उसमें कई स्थानोंपर जो कथा-सूत्र टूटा हुआ है वह न होता। उदाहरणार्थ, दशरथ-द्वारा राम-राज्याभिषेकके निर्णय तथा वन-यात्राके लिए मातासे रामकी विदाईके बीच कैकेयीका वर-याचना-प्रसंग, वालिवध तथा सुग्रीव-मैत्रीकी कथाएँ 'गीतावली' में नहीं हैं; उसके किष्किंधाकांडमें केवल दो पद आते हैं, एकमें राम सीताके 'भूषण वसन' आदिका अवलोकन करते हैं, और दूसरेमें वे कहते हैं कि वर्षाके व्यतीत होनेपर शरद ऋतु भी उपस्थित हो गई किंतु सुग्रीवने सीताका पता न लगाया। इसीप्रकार लक्ष्मण-शक्तिके अनंतर ही राम विजयोल्लसित वर्णित हैं, और तत्पश्चात् उनका अयोध्याको प्रस्थान वर्णित है—रावण-वध तथा सीता-मिलन आदिके प्रसंग ही छोड़ दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, यदि 'गीतावली' में कथा-निर्माणका प्रयास होता तो कई स्थलोंपर एक-ही बात जो कई बार दुहराई गई है, यह पुनरावृत्ति भी हमें उसमें न मिलती। फिर, काव्य-शास्त्रका यह एक सिद्धांत-सा है कि स्फुट-काव्यमें—और उसमें भी गीतिकाव्यमें—कथा अथवा किसी प्रकारका प्रबंध-निर्माण अधिकतर, नहीं होसकता और 'गीतावली' कदाचित् इस सिद्धांतका अपवाद नहीं है।

(ग) यदि 'गीतावली' की रचना न 'मानस' के साथकी है, और न उसके पूर्वकी, तो यह स्पष्ट ही उसके पीछेकी ठहरती है, और ऊपर यही अन्य प्रमाणोंसे भी सिद्ध होचुका है,। 'सूरसागर' अथवा 'गीतावली' ऐसे गीतिकाव्योंके लिए

यह अनिवार्य था कि एक पूर्ण कथा-प्रबंध उनकी पृष्टभूमि में होता। 'मानस' के लिए जिस कथाका निर्माण गोस्वामीजीने कमसे कम बीसों ग्रंथोंके अध्ययनके पश्चात् किया था वही 'गीतावली' की भी है। यदि कहीं-कहीं उसमें थोड़ा-बहुत भेद पड़ा है तो वह, जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, कुछ गीतिकाव्यकी अनिवार्य त्रुटियों, स्फुट-रचना-प्रणालीके दोषों तथा कविकी प्रतिभा तथा रुचिमें परिवर्तन अथवा विकारके कारण है। अन्यथा 'मानस' में, 'अध्यात्मरामायण' की तुलनामें, जो मुख्य-मुख्य कथा-भेद आदि हैं—जैसे फुलवारी-लीला इत्यादि—वे लगभग कुल 'गीतावली' में भी उसीप्रकार हैं।

इसप्रकार सभी दृष्टियोंसे विचार करनेपर 'गीतावली' की रचना 'मानस' के पीछेकी सिद्ध होती है। शब्द तथा वाक्य-विन्यासमें 'गीतावली' जो 'मानस' से कितने ही स्थलोंपर मिलती है, उसका कारण 'मानस' का गोस्वामीजी-द्वारा निरंतर पारायण है। अपनी ही रचना, और फिर उसके परमप्रिय होनेके कारण उसका निरंतर पाठ करते रहने से, यदि वही शब्दावली और वाक्य-विन्यास एक पीछेवाली रचनामें इतस्तत: मिलते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं—विशेषत: तब जबकि इस रचनाका विषय भी वही हो जो पहलीका था।

प्रश्न अब यह है कि 'गीतावली' की रचना यदि 'मानस' के पीछेकी है तो कितने पीछे की ? उपर्युक्त साक्ष्योंके आधारपर यह अनुमान होता है कि 'मानस' से 'गीतावली' की रचना १२ या १३ वर्ष पीछे माननी पड़ेगी। इससे कम समय कदाचित् पर्याप्त न होगा, क्योंकि जैसा हमने ऊपर देखा है सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान देनेपर दोनोंकी मूल प्रवृत्तियोंमें कुछ अंतर अवश्य है, जिसके लिए यह समय अधिक नहीं कहा जा सकता। फिर, सात-आठ वर्ष पीछेतक तो गोस्वामीजीने 'मानस' को ही सवाँरा होगा—और निश्चय ही 'मानस' जिस रूपमें हमें अब उपलब्ध है वह सं० १६३१ का मूल-रूप नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, महाकविको जबतक कोई नवीन संदेश नहीं उपस्थित करना होता, तबतक वह किसी बड़ी कृतिमें हाथ नहीं लगाता—और यदि इस दूसरी रचनाका भी विषय पहली ही रचनाका होता है, तब बीचका समय और भी लंबा होना चाहिए, क्योंकि यदि विषय अथवा उसके प्रतिपादनमें कोई नवीनता न हुई तो कमसे कम दृष्टिकोणमें वह अवश्य अपेक्षित होती है। और, इस नवीनताके लिए १२ या १३ वर्षका समय अधिक नहीं कहा जा सकता। अतएव, 'गीतावली' का रचना काल सं० १६४४ तथा उसके पीछे ही माना जा सकता है। 'गीतावली' की रचना स्फुट ढंग से हुई है, फलत: यदि उसके

अधिकतर पदोंकी रचनाके लिए चार वर्षका समय रक्खा जावे तो वह सं० १६४४-४८ होता है।

कहाँ वेणीमाधवदासका 'गीतावली' को गोस्वामीजीकी सर्व प्रथम कृति कहना, और कहाँ ये कुलवातें! 'गीतावली' के कुछ पदोंकी रचना संभव है 'मानस' से पूर्व हुई हो, किंतु उसका अधिकांश 'मानस' के पीछेकी ही कृति होनी चाहिए। 'गीतावली' को कविकी सर्व प्रथम कृति कहना भी उतना ही अन्याय-पूर्ण लगता है जितना 'रामललानहछू' को उसकी अंतिम रचनाओंमें रखना। सर्व-प्रथमकी बात दूर, प्राथमिक रचनाओंमें ही प्रयोगात्मकता होती है, उनकी शैलीमें शिथिलता होती है, शब्दाडंबर विशेष किंतु भावोंका प्रकटीकरण यथेष्ट नहीं होता, और सबसे अधिक, कविका अंधेरेमें टटोलनेका प्रयास होता है, किंतु ये सब त्रुटियाँ 'गीतावली' में कहाँ हैं? 'गीतावली' गोस्वामीजीकी अंतिम कृतियोंमें भी नहीं रक्खी जासकती, क्योंकि उनमें भाव-भंडारके व्यक्तीकरणके लिए किसी एक ही भाषाके शब्द-भंडारकी अपर्याप्तता, कुछ दुरूहता, सरसताकी न्यूनता तथा श्रुतिमधुरताकी कुछ अवहेलना आदि बातें होती हैं, जो 'गीतावली' में नहीं हैं। 'गीतावली' वास्तवमें एक माध्यमिक रचना है, जिसमें भाव तथा भाषाका पूर्ण सामंजस्य हुआ है, शैली परिष्कृत है, भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है, और अकेले उसीका शब्द-भंडार पर्याप्त हुआ है। फलत शैलीके साक्ष्यसे भी 'गीतावली' की रचनाके लिए स० १६४४-४८ की तिथि अनुपयुक्त नहीं जान पड़ती।

कृष्णगीतावली

'कृष्णगीतावली' की रचना 'गीतावली' के साथकी मानी जाती है। वेणीमाधवदासने भी इसका संग्रह 'गीतावली' के साथ स० १६२८ में होनेका उल्लेख किया है। 'गीतावली की रचना-तिथिके संबंधमें हम ऊपर विचार कर चुके हैं। यदि 'कृष्णगीतावली' को भी हम उसीके साथकी रचना मानें तो उसका रचना काल स० १६४८ के लगभग होना चाहिए। किंतु उसके भाषा-शैली, विषय प्रतिपादन और सरसता आदिपर यदि हम ध्यान देते हैं तो 'कृष्णगीतावली' 'गीतावली' की अपेक्षा बीस ही ज्ञात होती है। उसकी भाषा-शैली 'गीतावली' की अपेक्षा कुछ अधिक परिमार्जित तथा प्रौढ़ है। संभव है विषय-वस्तुके उस समयतक मँज आनेके कारण, और ब्रज-भाषा-शैलीके भी कृष्ण-चरित्रमें भलीभाँति रँग जानेके कारण ही 'कृष्णगीतावली' में यह परिमार्जन और प्रौढ़ता दीख पड़ती हो, किंतु एक और बड़ी विशेषता इस ग्रंथकी यह है कि यह

गीतावली' की अपेक्षा अधिक सफल गीतिकाव्य है। 'गीतावली' में लगभग तीन चौथाई वर्णन—कथा-वर्णन और वस्तु वर्णन—है, इसीलिए इतने बड़े ग्रंथमें अधिकतर स्थलोंमें नीरसता पाई जाती है, किंतु 'कृष्णगीतावली' इस त्रुटिसे मुक्त है। संभव है हिंदीके सरस कृष्ण साहित्यका संकुचित क्षेत्र ही अधिकांशमें इस पिछली विशेषताके लिए उत्तरदायी हो। फिरभी, उपर्युक्त विशेषताओंका एक-साथ पूरा पूरा समाधान होना कठिन है। ऐसा ज्ञात होता है कि हमें 'कृष्ण-गीतावली' की रचना 'गीतावली' की अपेक्षा कमसे कम दो वर्ष पीछे माननी होगी। इसप्रकार, 'कृष्णगीतावली' का रचना-काल अनुमानतः सं० १६४६ ई० के लगभग होगा।

विनयपत्रिका

सं० १६६६ की लिखी हुई 'विनयपत्रिका' की एक हस्तलिखित प्रति बाबू श्यामसुंदरदासको कई वर्ष हुए कहीं देखनेको मिली थी। उस प्रतिके परिचय में बाबू साहबने एक लेख 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (भाग १ अंक १) में प्रकाशित किया था। इसमें उन्होंने उस प्रतिमें प्राप्त पदोंकी एक सारणी देते हुए भागवतदास तथा शिवलालकी प्रतियोंके अनुसार उनकी क्रम संख्याएँ भी दी हैं। बाबू साहबके उक्त लेखके अनुसार उस प्रतिमें ग्रंथकी समाप्ति १७६ पदोंपर होती है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित 'तुलसी-ग्रंथावली' में जो 'विनयपत्रिका' संगृहीत है, उसमें अंतिम पद-संख्या २७९ है। उस लेखसे यह भी पता चलता है कि वह प्रति कहीं-कहीं खंडित है, जिसके कारण १७६ में से केवल १४८ पदोंका ही पता चलता है और इन १४८ मेंसे भी छः पद इस समय 'विनयपत्रिका' के किसी संस्करणमें नहीं मिलते। ढूँढनेपर इन छ मेंसे पाच पद 'गीतावली' में विभिन्न स्थलोंपर प्रस्तुत लेखकको मिले हैं, केवल एक पद का उसे पता नहीं चला। इन पदोंके संबंधमें इस बातकी पर्याप्त संभावना है कि 'विनयपत्रिका' को उसका प्रस्तुत स्वरूप देनेके लिए वे उस संस्करणमें से निकाल-कर 'गीतावली' में रख दिए हों, किंतु इतना निर्विवाद है कि पहले वे 'विनय-पत्रिका' की ही संपत्ति थे। इन्हीं पाँचमें से एक जो उपर्युक्त सं० १६६६ की प्रतिका ८१ वाँ पद था 'गीतावली' (ना० प्र० स० संस्करण) का अंतिम पद है। उसमें उल्लेख हुआ है कि जानकीके साथ घर आते समय रामने परशुरामका गर्व हरण किया। पंक्ति इसप्रकार है—

जनक सुता समेत आवत गृह परसुराम अति मद हारी।

इस उल्लेखसे यह नितांत स्पष्ट होजाता है कि प्रस्तुत पद 'मानस' से पूर्वकी

रचना है। इसकी रचना संभवतः 'रामाज्ञा' के रचना-काल (सं० १६२१) के लगभग हुई होगी। फलतः यह कल्पना भी की जा सकती है कि इसके साथके या कुछ ही आगे-पीछे रचे गए चार-छः पद अब भी 'विनयपत्रिका' में होंगे। किंतु इसप्रकारका कोई अन्य पद 'विनयपत्रिका' में बहुत ढूँढनेपर भी नहीं मिलता जिसके संबंधमें इतने ही निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि यह 'मानस' से पूर्वकी रचना है। फिर भी, 'विनयपत्रिका' के उक्त संस्करणकी एक सीमा सं० १६२१ के लगभग और दूसरी सं० १६६६ माननी होगी।

इसमें संदेह नहीं कि सं० १६२१ के लगभगसे लेकर 'मानस' के रचना-कालतक, और उसके पीछे 'गीतावली' के रचना-काल (सं० १६४४-४८) तक कुछ-न-कुछ पद अवश्य रचे गए होंगे, किंतु उनकी संख्या संभवतः अधिक न होगी अथवा, यह भी संभव है कि इस कालमें जो पद रचे गए हों उनमें विनय-भावना-की यथेष्ट स्फूर्ति न रही हो और वे 'गीतावली' में रख दिए गए हों। जो कुछ भी हो, इस बातके लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं है कि सं० १६६६ की 'विनयपत्रिका' की उपर्युक्त प्रतिमें ऐसे पदोंकी एक ध्यान देने योग्य संख्या है जिनकी रचना सं० १६२१ के लगभगसे लेकर 'गीतावली' के रचना-कालतक हुई हो।

'गीतावली' के रचना-कालमें, अर्थात् अनुमानतः सं० १६४४ से लेकर सं० १६४८ के भीतर अवश्य कुछ ऐसे पदोंकी रचना हुई होगी जो सं० १६६६ की उपर्युक्त प्रतिमें हैं, किंतु, 'गीतावली' के रचना-कालके अंततक कविके हृदयमें विनय-भावनाका सम्यक् स्फुरण हुआ होगा ऐसा नहीं ज्ञात होता। 'मानस' में, जिसकी रचना सं० १६३१ की है, भक्ति कुछ-न-कुछ ज्ञानाश्रित है और विनयको उसमें कोई विशेष स्थान नहीं मिल सका है। 'सतसई' में, यदि वह गोस्वामीजीकी ही रचना है, ज्ञान ही प्रधान है, उसपर भी शंकरका अद्वैतवाद। भक्ति उसमें दब गई है। 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' में अनंतकी माधुर्य नामक विभूतिने उसकी अन्य विभूतियोंको आच्छादित कर लिया है। किंतु 'गीतावली' की समाप्तितक उस विनय-भावनाकी कुछ स्फूर्ति होने लगती है जिसका विकास हमें 'विनयपत्रिका' के उपर्युक्त प्राचीन संस्करणमें मिलता है। विनय भावनाकी स्फूर्तिका तथ्य 'गीतावली' के सुंदरकांडमें विभीषणकी शरणा-गति संबंधी पद-माला[१] पढ़नेपर स्पष्ट हो जाता है। इन पदोंमें जिस शैलीका प्रयोग हुआ है, मूलतः 'विनयपत्रिका' के पदोंकी भी वही शैली है।

दूसरी ओर, 'विनयपत्रिका' का उपर्युक्त प्राचीन संस्करण सं० १६६६ की कृति भी नहीं हो सकती। बाबू श्यामसुंदरदासने उस प्रतिका जो विवरण

[१] 'गीतावली' सुंदर० २८ से ४६ पद तक

प्रकाशित किया है, उससे यह पता चलता है कि उसका लिपिकार गोस्वामीजीके अतिरिक्त कोई व्यक्ति है। फलतः प्रथम मूल प्रतिसे इस प्रतिलिपिकी तिथिमें छः या सात वर्षोंका अंतर होना अनिवार्य-सा जान पड़ता है। इतना समय उस युगमें, जब कि मुद्रणयंत्रोंका भारतमें अभाव था, 'विनयपत्रिका' के उपर्युक्त संस्करणको इतनी लोक प्रियता तथा प्रसिद्धि प्राप्त करने में अवश्य लग गया होगा कि किसी व्यक्तिके लिए लिपिकारने उसकी प्रतिलिपिकी हो। फलतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रतिके पदोंकी रचना अनुमानतः सं० १६६० के लगभगतक समाप्त हो चुकी रही होगी।

ऊपर हमने वास्तविक विनय-भावनाकी स्फूर्तिका प्रारंभ सं० १६४८के लगभग माना है। 'गीतावली' रचनाके पीछे भी कुछ दिनोंतक कविके हृदयमें सौंदर्य-माधुर्य प्रधान भावना अधिकार किए बैठी थी, यह 'कृष्णगीतावली' की रचनासे ही प्रकट है। विनय-भावनाका विकास क्रमशः हुआ होगा। कविके हृदयमें उसका सम्यक् उद्रेक होनेमें 'कृष्णगीतावली' के रचना-काल (सं० १६४८-५०) से कमसे कम छः या सात वर्ष अवश्य लग गए होंगे। सौंदर्य-माधुर्य प्रधान भावना से दैन्य तथा विनय-प्रचुर भावनामें पूर्ण स्फूर्ति होनेके लिए छः सात वर्षका समय अधिक नहीं है, क्योंकि इसमें एकप्रकारसे प्रवृत्तिका परिवर्तन है। दोनों प्रवृत्तियोंमें स्वभावतः कितना अंतर है, इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि ऊपर जिन पाँच पदोंके विषयमें उनके 'विनयपत्रिका' के स्थानपर 'गीतावली' में मिलनेका उल्लेख किया गया है उनमें से चारमें सौंदर्य-माधुर्य-भावना प्रधान है। दूसरी ओर, प्रस्तुत 'विनयपत्रिका' में ऐसा पद कदाचित् एक भी न मिलेगा जिसमें सौंदर्य माधुर्य भावना प्रधान हो। कुल 'विनयपत्रिका' में अनंतकी शक्ति, सौंदर्य, तथा शील नामक तीन प्रमुख विभूतियोंमें से केवल अंतिमका आश्रय लिया गया है। इसप्रकार भी विचार करनेपर 'विनय-पत्रिका' के अधिकतर पदोंके लिए सं० १६५६ से पूर्व हम रचना काल नहीं रख सकते। यदि हम मान लें कि 'विनयपत्रिका' के उपर्युक्त प्राचीन संस्करणके अधिकतर पदोंकी रचना अनुमानतः तीन वर्षमें हुई होगी, तो यह रचना-काल सं० १६५६-५९ ठहरता है।

शैलीका साक्ष्य भी ऊपर पहुँचे हुए परिणामकी पुष्टि करता है। 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' की शैलियाँ मूलतः एक ही हैं, किंतु जैसी प्रौढ़ शैली, और वह जिसमें भाषा भावोंका भलीभाँति साथ न दे सकती हो, और जिसमें एक ही बोलीका शब्द भंडार विचारोंके सम्यक्

प्रकाशनके लिए पर्याप्त सिद्ध हो, उपर्युक्त प्रतिके अधिकतर पदोंकी है 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' की नहीं है। 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' की शैलियाँ स्पष्ट ही मारम्भिक हैं—जिनमें भाषा तथा भावोंका मधुर सामञ्जस्य है केवल व्रजभाषाका शब्द भंडार पर्याप्त हुआ है, और दुरूहता कहीं नहीं प्रतीत होती। फलतः, 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' की शैलियोंसे बढ़कर 'विनय पत्रिका' की शैलीतक पहुँचनेमें कविको यदि छ-सात वर्ष लग गए हों तो कुछ आश्चर्य नहीं।

विनयपत्रिका पर विचार करते हुए उसके प्रस्तुत स्वरूपके संबंधमें भी विचार कर लेने आवश्यकता है, क्योंकि सं० १६६६ की उपर्युक्त प्रतिमें १७६ पदों पर ही प्रथकी समाप्ति हुई है। इन १७६ मेंसे उक्त प्रतिके खंडित होनेके कारण १२८ पदोंका ही पता है, और इन १२८ मेंसे छ इससमय विनयपत्रिका' में नहीं है। यदि पूरी प्रति प्राप्त होती तो उसी अनुपातमें यह संख्या संभवतः सातके लगभग होती, और अब भी उक्त प्रतिके लगभग १६६ पद प्रस्तुत विनयपत्रिका' में मिलते। किंतु प्रस्तुत विनयपत्रिका' में अंतिम पद संख्या २७६ है, फलतः यह निश्चित है कि शेष लगभग ११० पद पीछे कभी मिलाए गए होंगे। अब प्रश्न यह है कि वे 'विनयपत्रिका' में किस तिथितक मिलाए गए होंगे।

रुद्रबीसीका समय सं० १६६५ से १६८५ तक माना जाता है और मीन की सनीचरी का सं० १६६६ से १६७१ तक, ऐतिहासिक साक्ष्योंके आधारपर काशीमें महामारीका समय सं० १६७७ से १६७६ के लगभग ज्ञात होता है, और गोस्वामीजीको बाहुपीड़ा उनके जीवनके अंतिम दिनोंमें हुई ज्ञात होती है।[1] किंतु इनमेंसे किसीका भी उल्लेख 'विनयपत्रिका' के किसी पदमें नहीं होता। रुद्रबीसीके समय काशीमें बड़ा उत्पात था। संभव है उसके प्रारंभिक दो-एक वर्षोंमें वह इतना तीव्र न रहा हो कि कविका ध्यान उधर आकर्षित हुआ हो, फिरभी इतना निश्चित है कि सं० १६६८ तक वह भली भाँति बढ़ चुका रहा होगा, क्योंकि 'मीनकी सनीचरी' के योगमें बढ़कर वह बहुत अधिक हो गया था। इसलिए हम इस संस्करणके लिए अधिकसे अधिक सं० १६६८ की तिथि मान सकते हैं। किंतु इससे पहले भी हम प्रस्तुत संस्करणके लिए नहीं आ सकते। प्रस्तुत संस्करणतक गोस्वामीजी स्वयं इन उत्पातोंसे पीड़ित होचुकेथे, क्योंकि

[1] देखिए इसी संग्रहमें 'कवितावली और तुलसीदासके अंतिम दिन' शीर्षक लेख।

'विनयपत्रिका' के एक पदमें, जो सं० १६६६ की उपर्युक्त प्रतिमें नहीं है, शिवसे प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं—

गाँवँ बसत वामदेव कबहुँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥ ८॥

—'अधिभौतिक बाधा' से यह निर्विवाद स्पष्ट है कि गोस्वामीजीको भी कुछ दुष्टोंने कष्ट पहुँचाया था। यदि इस घटनाके लिए हम सं० १६६६-६७ का समय मान लें तो 'विनयपत्रिका' का प्रस्तुत संस्करण सं० १६६८ के इधरकी कृति न होगी।

'विनयपत्रिका' की रचनाके लिए वेणीमाधवदासने सं० १६३९ का समय दिया है। यह असंभव नहीं कि सं० १६३९ के लगभग गोस्वामीजीने कुछ पदों-की रचनाकी हो, किंतु पूरी रचनाके लिए हम इस तिथिको मान लें, यह ठीक नहीं जान पड़ता है।

बरवै

बरवै छंदके पिता रहीम (सुप्रसिद्ध नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना) माने जाते हैं। इन्होंने 'बरवैमें नायिका-भेद' की तथा स्फुट छंदोंकी रचना की है। किंतु इन रचनाओंका समय अभीतककी खोजसे निर्धारित नहीं हो सका है। केशवदास रहीमके समकालीन थे—केशवदासका जन्म सं० १६१२ में हुआ था, और रहीमका सं० १६१३ में। केशवदासके पूर्व कृपारामने 'हिततरंगिणी'-नामक एक ग्रंथमें रीति-शास्त्रका एक साधारण विवेचन प्रस्तुत किया था, किंतु उन्हें उल्लेखयोग्य सफलता उसमें न मिली। बलभद्र मिश्र केशवदासके बड़े भाई थे। उन्होंने 'नखशिख'-नामक ऐसे ही एक ग्रंथकी रचना सं० १६४५ के लगभग की थी, किंतु उसका भी विशेष सम्मान न हुआ। इसके अनंतर सं० १६४८ में केशवदासने 'रसिकप्रिया' की रचना की। इसकी इतनी ख्याति हुई कि इसके पीछे नायिका-भेद लिखनेकी हिंदी-साहित्यमें एक परिपाटी-सी चल पड़ी। इसीलिए अनेक आधुनिक विद्वान् रीति-कालका प्रारंभ ही 'रसिकप्रिया' के रचना-कालसे मानते हैं। केशवदास महाकवि थे, और दर्बारोंमें उनका विशेष मान था। उनके मित्रोंमें से रहीम भी थे, जिनकी प्रशंसा उन्होंने 'जहाँगीरजसचंद्रिका' में की है, जो उन्होंने रहीमके पुत्र एलिच-बहादुरके लिए सं० १६६६ में लिखी थी (यह कम संभव जान पड़ता है कि केवल एलिचबहादुरके पिता होनेके नाते ही रहीमकी उसमें प्रशंसा की गई हो)। रहीमके 'बरवै नायिका-भेद' में लक्षण न देकर केवल उदाहरण दिए गए

है, जिससे यह लक्षित होता है कि रहीमके सम्मुख नायिका-भेदका कोई प्रसिद्ध ग्रंथ था, जिसका इतना प्रचार दर्बारोंमें अवश्य था कि बिना लक्षण बताए ही रसिक-वर्ग उदाहरणोंसे पूरा आनंद प्राप्त कर लेता था। संस्कृतके रीतिग्रंथों-के अध्ययनके लिए दर्बारके सदस्योंके अवकाश कहाँ होता—संस्कृतका आदर उस समय योंभी बहुत कम होगया था—यद्यपि हिंदी-साहित्यके रीति-रचयिताओंमें ही इनी-गिनी संख्या ऐसों की है जिनके विषयमें यह माना जा सकता है कि उन्होंने संस्कृतके रीति-ग्रंथोंका अध्ययन करके लेखनी उठाई थी। अतएव, निश्चय ही वह कोई सर्वप्रिय तथा 'भाषा' में नायिका-भेदका ग्रंथ था, जो रहीमके 'बरवै नायिका-भेद' की कुंजी था। इस ग्रंथके लिए केशवकी 'रसिकप्रिया' की ही सबसे अधिक संभावना है, कारण यह है कि एक तो उस समय मुग़ल दर्बारमें केशवका बड़ा सम्मान था, जो अनेक ऐतिहासिक प्रमाणोंसे सिद्ध है, दूसरे, 'रसिकप्रिया' ने ही रसिकोंमें सर्वप्रियता प्राप्त भी की थी, और तीसरे, रहीम स्वयं भी केशवका आदर करते थे। किंतु, इस प्रकारकी ख्याति तथा सर्वप्रियता प्राप्त करनेमें कि रहीमको लक्षण न बताना पड़ता रहा हो और तब भी रसिक-वर्ग 'बरवै नायिका-भेद' से पूरा आनंद प्राप्त कर लेता रहा हो, निश्चय ही कमसे कम छः या सात वर्ष लगे होंगे। अतएव, 'बरवै नायिका-भेद' की रचना सं० १६५४-५५ के लगभग माननी चाहिए।

अन्यत्र हम यह देख चुके हैं कि सं० १६५७ से लेकर उनके मृत्यु-काल अर्थात् सं० १६८६ तक रहीमका जीवन विपत्तियोंका था, और इन तीस वर्षोंके भीतर कभी 'बरवै नायिकाभेद' की रचना उन्होंने की होगी ऐसा अनुमान करना ठीक न होगा।[1] फलतः यह बहुत-कुछ निश्चित जान पड़ता है कि 'बरवै नायिका-भेद' की रचना सं० १६५७ से पूर्व हुई होगी। इसप्रकार भी ऊपर हम उसकी रचना-तिथिके संबंधमें जिस निष्कर्षपर पहुँच चुके हैं वह ठीक जान पड़ता है।

सं० १६६६ के कार्योंका विवरण देते हुए वेणीमाधवदासने लिखा है कि रहीम कविने 'बरवै' की रचना करके उसे गोस्वामीजीके पास भेजा, जिसे देखकर गोस्वामीजीने भी बरवै छंदमें रचना प्रकाशित की।[2] किंतु ऊपर जिन बातोंका उल्लेख किया गया है उनको देखते हुए यह असंभव जान पड़ता है कि सं० १६६६ में रहीमने 'बरवै' की रचना की होगी और उसे गोस्वामीजीके पास भेजा होगा, यद्यपि गोस्वामीजीने रहीमकी रचनाओंसे प्रेरित होकर अपने 'बरवै' की

[1] देखिए इसी संग्रहमें 'मूल गोसाईंचरितकी ऐतिहासिकतापर कुछ विचार' शीर्षक लेख, पृ० ३२

[2] 'मूल गोसाईंचरित', दो० ९१

रचना की होगी इस विषयमें संदेहके लिए स्थान कम है। रहीमने जो स्फुट बरवै लिखे हैं उनमें से लगभग आधे दर्जन ऐसे हैं जो स्पष्टतः 'मानस' के कुछ दोहों तथा सोरठोंकी प्रतिच्छाया हैं; उनका शब्द-विन्यास ही नहीं वाक्य-विन्यास भी तुलसीदासका है। रहीमके 'फुटकर बरवै' का प्रारंभ गणेशकी वंदनासे होता है, और इस वंदनामें जो बरवै आए हैं वे 'मानस' के प्रारंभके 'जेहि सुमिरत सिधि होइ......' आदिकी प्रतिच्छाया जान पड़ते हैं। बहुत संभव है कि रहीमने इस प्रकार 'मानस' के कुछ सोरठों और दोहोंके भाव ही नहीं शब्द भी इन बरवै छंदों में लाकर उन्हें गोस्वामीजीके पास—कदाचित स्वरचित 'बरवै नायिका-भेद' के साथ—भेजकर यह सूचित करना चाहा हो कि बरवै छंद केवल शृंगारपूर्ण रचनाके लिए ही नहीं वरन् शांतिरसपूर्ण रचनाके लिए भी उपयुक्त था। किंतु यह कार्य सं० १६५६ के पीछेका बताया जाना ठीक नहीं ज्ञात होता। अतः गोस्वामीजीके 'बरवै' के रचना-कालकी एक सीमा कदाचित् सं० १६५६ की तिथि मानी जा सकती है।

दूसरी ओर, गोस्वामीजीके 'बरवै' में न तो 'अधिभौतिक बाधा' का उल्लेख है, न रुद्रबीसीका, न 'मीनकी सनीचरी' का, न महामारीका, न बाहु-पीड़ाका और न अंतिम-प्रयाणका। अतः निश्चयही इसकी रचना सं० १६६९ के पूर्व माननी पड़ेगी। अब प्रश्न यह है कि सं० १६५६ और सं० १६६९ के बीच वास्तविक रचना-काल कहाँ होगा ?

'बरवै' एक स्फुट काव्य-ग्रंथ है—उसके विभिन्न छंदोंकी रचना विभिन्न समयोंमेंकी गई होगी, यह उसके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है। बरवै में लगभग आधे दर्जन[1] ऐसे छंद हैं जो शृंगार-पूर्ण हैं। बहुत संभव है कि बरवै नायिका-भेद' के तात्कालिक प्रभावसे प्रभावित होकर गोस्वामीजीने उनकी रचना की हो, और सँभल जानेपर फिर बरवै छंदका प्रयोग रामकथाके लिए हो किया हो। प्रथम छः कांडोंके अधिकतर बरवै इसी पिछले विषयके हैं, और उत्तरकांडमें तो एक पर्याप्त संख्या ऐसे छंदोंकी है जो शांतिरसके हैं। उत्तरकांडके इन छंदोंमें से कुछमें तो आगे आती हुई मृत्युकी धुंधली प्रतिच्छाया भी इतना स्पष्ट झलकती है कि अभीतक हमने जिन ग्रंथोंके रचना-कालके संबंध में विचार किया है उनमें से वह किसी में नहीं मिलती।

> मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
> तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥ ६५ ॥
> तुलसी रामनाम सम मित्र न आन।
> जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान ॥ ६७ ॥

---

[1] उदाहरणार्थ 'बरवै', ४, १२, १६ और २६

नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहिं देहु ॥ ६८ ॥
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहिं देहु।
तहँ तहँ राम निबाहब नाम सनेहु ॥ ६९ ॥

विनयपत्रिका की उपर्युक्त सं० १६६६ की प्रतिमें संगृहीत पदोंका रचना-काल सं० १६२६-३१ के लगभग माना जा चुका है, फलतः 'बरवै' के छन्दोंका रचना निश्चय ही उसके पीछेकी होगी। इसप्रकार उसकी रचनाकी एक सीमा सं० १६२६ से आगे बढ़कर सं० १६३१ तक आ जाती है, और दूसरी सीमा इस सं० १६६६ तक ही चुकी है, अतः 'बरवै' की रचना इन्हीं दोनों तिथियोंके बीच कभी हुई होगी यह स्पष्ट ज्ञात पड़ता है। लेखकका अनुमान है कि इसी दूसरी सीमाके निकट उसकी रचना तिथि मानना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि ऊपरके उल्लेखों से यह ज्ञात पड़ता है कि अब कवि विशेष वृद्ध हो चला था। यदि हम 'बरवै' के छन्दोंकी अंतिम रचना तिथि सं० १६६४ मान और उनमें से अधिकतरकी रचना दो वर्षोंके समयमें हुई अनुमान करें, तो 'बरवै' के अधिकतर छन्दोंकी रचना तिथि सं० १६६२-६४ के लगभग ठहरता है।

दोहावली

'दोहावली' के ५७३ दोहोंमें से ३५ 'रामाज्ञा', २ 'वैराग्यसंदीपिनी', ८५ 'मानस' तथा १३१ 'सतसई' में मिलते हैं। इसप्रकार उसमें संकलित दोहोंकी संख्या २५३ है। यह अनुमान करना कि ये दोहे 'दोहावली' से उपर्युक्त ग्रंथोंमें—अथवा उनमेंसे किसीमें भी—गए होंगे कदाचित् ठीक न होगा, क्योंकि दोहावली एक संग्रह ग्रंथ है, उसमें दोहोंका कोई तारतम्य नहीं है, और 'रामाज्ञा', 'वैराग्यसंदीपिनी', 'मानस' तथा 'सतसई' सभी प्रबंध-ग्रंथ हैं और इनमें उन दोहोंमें से प्रत्येकके लिए एक निर्दिष्ट स्थान है—अर्थात् यदि वे इन ग्रंथोंसे निकाल दिए जायँ तो इन ग्रंथोंका प्रबंध-सूत्र टूट जायेगा। अतः 'दोहावली' की रचना निश्चय ही इन सभी ग्रंथोंके पीछेकी माननी पड़ेगी। इन उपर्युक्त ग्रंथोंमेंसे, 'दोहावली' को छोड़ देनेपर 'सतसई' ही (सं० १६४२) सबसे पीछेकी कृति है, अतएव, 'दोहावली' का संग्रह सं० १६४२ के पीछे किसी तिथिको हुआ होगा यह स्पष्ट है।

'दोहावली' के दो दोहोंमें हनुमानको शिवका अवतार कहा गया है—

जेहि सरीर रति रामसों सोइ आदरें सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान ॥ १४२ ॥
जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान ॥ १४३ ॥

'विनयपत्रिका' में हनुमानकी स्तुति पदोंके अतिरिक्त पाँच स्तोत्रोंमें की गई है, और ये पाँच स्तोत्र 'विनयपत्रिका' की उपर्युक्त सं० १६६६ की प्रतिमें भी हैं। इन स्तोत्रोंमें भी इसीप्रकार हनुमानको शिवका अवतार कहा गया है—

> जयति रनधीर रघुवीरहित देवमनि रुद्रअवतार संसार पाता ॥ २५ ॥
> जयति मर्कटाधीश मृगराजविक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली ॥ २६ ॥
> जयति मंगलागार संसारभारापहर बानराकारविग्रह पुरारी ॥ २७ ॥
> जयति बालार्क बरबदन पिंगल नयन कपिस कर्कश जटाजूटधारी ॥ २८ ॥
> राम पदपद्म मकरंद मधुकर पाहि दासतुलसी सरन सूलपानी ॥ २९ ॥

'विनयपत्रिका' की सं० १६६६ की प्रतिमें संगृहीत पदोंका रचना-काल हमने ऊपर सं० १६२६-६६ माना है, अतः यह स्पष्ट है कि ऊपरके दोहोंकी रचना भी कदाचित् उन्हींके लगभग हुई होगी।

कविने 'विनयपत्रिका' के एक पदमें जो सं० १६६६ वाली प्रतिमें नहीं है जिसप्रकार 'अधिभौतिक' बाधा-द्वारा पीड़ित होनेपर शिवसे प्रार्थना की है, उसीप्रकार 'दोहावली' के निम्नलिखित दोहोंमें भी वह उनके दूर होजानेके संबंधमें अपने दृढ़ विश्वासका उल्लेख करता है—

> तुलसी रघुबरसेवकहिं खल डाटत मन माखि।
> बाजराजके सेवकहिं लवा दिखावत आँखि ॥ १४४ ॥
> पुन्य पाप जस अजसके भावी भाजन भूरि।
> संकट तुलसीदासको राम करहिंगे दूरि ॥ १४६ ॥

इन दोहोंकी रचना भी उपर्युक्त 'अतिरिक्त' पदकी भाँति[1] कदाचित् सं० १६६७-६८ के लगभग हुई होगी।

दोहावली' में रुद्रबीसीका भी उल्लेख हुआ है—

> अपनी बीसी आपही पुरिहि लगाए नाथ।
> केहि बिधि बिनती बिस्वकी करौं बिस्वके नाथ ॥ २४० ॥

रुद्रबीसीका समय सं० १६६५ से सं० १६८५ तक माना जाता है, और यह समय जहाँगीरके राज्य-काल (सं० १६६२ से सं० १६८४ तक) में लगभग पूरा मेल खाता है। काशीमें तो उस समय उत्पात मचा ही हुआ था, देशभरमें प्रबंध शैथिल्यके कारण परिस्थिति शोचनीय थी। गोस्वामीजी लिखते हैं—

> बासर दावनि के दवा रजनी चहुँदिसि चोर।
> संकर निजपुर राखिए चितै सुलोचन कोर ॥ २३९ ॥

---

[1] देखिए इसी निबंधमें पृ० ८१

'दिनमें डाकुओंके दल और रातमें चोरोंके समुदाय चारोंओर उपद्रव कर रहे हैं।' सर टॉमस रोने, जो मुगल-दरबारमें सं० १६७२ में आया था, तत्कालीन शासनका जो वर्णन किया है, उसमें लिखा है कि यद्यपि देश सूबोंमें बँटा था, फिर भी प्रबंध शिथिल था, और फलतः शासन बहुत बुरा था; सूबोंके शासक स्वेच्छाचारी तथा अन्यायी होगए थे और राजा बन बैठे थे; पदोंकी प्राप्तिके लिए न योग्यताकी आवश्यकता थी न अच्छे पुरुषकी; अधिकतर नीच व्यक्ति ही सम्राट् तथा सम्राज्ञी अथवा उच्च पदाधिकारियोंको किसीभाँति प्रसन्न करके ऊँचेसे ऊँचे पदपर पहुँच जाते थे।[1] ऐसी दशामें डाकुओं और चोरोंका बल बढ़ जाना स्वाभाविक था। अतएव, इन दोहोंकी रचना भी कदाचित् सं० १६७२ के लगभग हुई होगी।

'दोहावली' के तीन दोहोंमें गोस्वामीजीने बाहुपीड़ासे पीड़ित होकर उससे त्राण पानेके लिए रामसे प्रार्थना की है—

> तुलसी तनु सर सुख जलज भुजरुज गज बरजोर।
> दलत दयानिधि देखिए कपि केसरीकिसोर॥ २३४॥
> भुजतरु कोटर रोग अहि बरवस कियो प्रवेस।
> विहँगराज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस॥ २३५॥
> बाहुबिटप सुख विहँगथलु लगी कुपीर कुआगि।
> राम कृपाजल सींचिए बेगि दीनहित लागि॥ २३६॥

—इन दोहोंकी रचना स्पष्टतः बाहुपीड़ाके दिनोंकी होगी, और बाहुपीड़ाका समय आगे सं० १६८० के लगभग माना गया है[2], अतः इन दोहोंकी रचना भी सं० १६८० लगभग हुई होगी।

गोस्वामीजीने स्वयं दोहावलीका संग्रह न किया होगा यह बहुत कुछ निश्चित है, क्योंकि उसके दोहोंमें तारतम्यका अभाव और उनके संकलन में सुरुचिकी न्यूनता इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हैं। 'दोहावली' का संग्रह गोस्वामीजीके किसी प्रेमी भक्त-द्वारा पीछेसे किया गया होगा, यह बहुत संभव है। इसमें जो दोहे अन्य ग्रंथोंसे संकलित हुए हैं उनमेंसे बहुतसे उच्च-कोटिके नहीं हैं, दूसरे, उनमें एक बड़ी संख्या ऐसे दोहोंकी भी है जो प्रसंगके हैं, और प्रसंगके बाहर जिनकी कोई संगति नहीं बैठ सकती—'रामाज्ञा' से जो दोहे लिए गए हैं उनमें से अधिकतर ऐसे ही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि संग्रहकार गोस्वामीजीका एक भक्त-मात्र था, और उसने अपने ही ऐसे भक्तोंके

---

[1] ईश्वरीप्रसाद, 'दि हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल इन इंडिया', पृ० ५०४-५०५

[2] देखिए इसी निबंधमें 'बाहुक' का रचना-काल विषयक विवेचन।

लिए—कदाचित् उन दोहोंको कंठस्थ रखने अथवा निरंतर उनका पाठ करनेके लिए—गोस्वामीजीकी समस्त कृतियोंमें से ग्रंथके लगभग आधे दोहे संकलित किए, और शेष अंशकी पूर्ति उनके अन्य प्राप्त दोहोंसे कर ली।

बेणीमाधवदासने 'दोहावली' की संग्रह-तिथि सं० १६३१-४० मानी है—

दोहावलि संग्रह किये, चालिस संवत लाग ॥ ५४॥

सं० १६३१-४० तक तो 'सतसई' की भी रचना नहीं हो सकी थी, जिसके १३१ दोहे 'दोहावली' मे संगृहीत हैं, और हमने ऊपर देखा ही है कि लगभग जीवनांत तकको कविकी कुछ रचनाएँ 'दोहावली' में मिलती हैं, ऐसी दशामें बेणीमाधवदास-द्वारा ही हुई इसकी संग्रह-तिथि किसप्रकार मानी जासकती है, यह कहना कठिन है।

बाहुक

कविने 'कवितावली' में किसी विषम-वेदनासे त्राण पानेके लिए शिवसे प्रार्थना की है, किंतु उसकी शांतिका उसने उसमें कोई उल्लेख नहीं किया है।[1] यह पीड़ा कदाचित् वात-विकारके कारण थी और कदाचित् इसीने धीरे-धीरे बाहु-पीड़ाका रूप धारण किया। 'दोहावली' में बाहुपीड़ा-उन्मूलनके लिए रामसे जो प्रार्थना की गई है, उसका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है। 'बाहुक' की रचना ही उसके उच्छेदनके लिए कीगई थी।

'बाहुक' में गोस्वामीजीने यह स्पष्ट लिखा है कि बाहु-पीड़ा वात-विकारके कारण थी—

बात तरमूल बाहुसूल कपिकच्छु बेलि
उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिये॥ २४॥

यह पीड़ा निरंतर बढ़ती गई और औषधि तथा प्रयोग आदि सब निष्फल हुए। देवताओंसे प्रार्थनाएँ भी व्यर्थ हुईं—

आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें
बढ़ी है बाहुबेदन कही न सहि जाति है।
औषधि अनेक जन्त्र मन्त्र टोटकादि किए
बादि भए देवता मनाए अधिकाति है॥ ३०॥

यह पीड़ा उन्हें वर्षाऋतुमें हुई थी—और वात-विकारके लिए वर्षा-ऋतु से अधिक अन्य कोई समय कष्टकर नहीं होता, यह सभी जानते हैं—

---

[1] 'कवितावली', उत्तर० १६६ और १६७

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यौं
बासर जलद घनघटा धुकि धाई है।
बरसत बारि पीर जारिए जवासे जस
रोष बिनु दोष धूममूल मलिनाई है।
करुनानिधान हनुमान महाबलवान
हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं ते उड़ाई है।
खायो हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि
केसरीकिसोर राखे बीर बरिआई है ॥ ३५ ॥

बाबू शिवनंदनसहाय कहते हैं—'इस कवितासे वेदनाकी क्षणिक निवृत्ति क्या सर्वथा निवृत्ति पाई जाती है'¹।' और 'मूल गोसाईंचरित' में बाहुपीड़ा और उससे नीरोग होनेका उल्लेख देखकर बाबू श्यामसुंदरदासने भी उसका समर्थन उपर्युक्त छंदकी अंतिम पंक्ति देकर किया है²। अंतिम पंक्तिका अर्थ कदाचित् इन मतोंमें यह लिया गया है कि 'तुलसीको कुरोग-राक्षसों ने खा लिया था, किंतु हनुमानने उसकी रक्षा करली'। किंतु पूरे छंदको पढ़नेपर यह विचार शुद्ध नहीं ज्ञात होता। पूरे छंदका अर्थ कदाचित् इसप्रकार होगा—

'रोगोंने दुष्ट लोगों और दुष्ट योगों (ग्रहों) की भाँति घेर लिया है। दिनमें बादलोंकी सघन घटा बड़े वेगसे चढ़ी आती है, जलकी वर्षाके साथ मेरी पीड़ाका भी इस उसीप्रकार दूर कीजिए जैसे जवासे जल जाते हैं। यदि आप बिना अपराध ही मुझसे रुष्ट हैं, तो यह वैसा ही है जैसा अग्निमें मलिनताका होना (क्योंकि मलिनता धूममें होनी चाहिए, न कि धूम-मूल अग्निमें)। हे महाबलवान् हनुमान! तूने देखकर, हँसकर, गर्जनकर और फूँककर ही फ़ौजें उड़ा दी हैं। (किंतु वास्तविक परीक्षा तो अब है,) तुलसी कुरोग-राक्षसों द्वारा (लगभग) खाया जा चुका है, यदि तू उसे बचा ले तभी ऐ वीर केशरी किशोर! तेरी वीरता यथार्थ है!' क्या छंद भरमें कहीं भी यह आशय ज्ञात होता है कि हनुमानने बाहुपीड़ा का शमन कर दिया था?

यह पीड़ा पहिले एक बाँह में ही हुई थी—

बेदन कुभाँति सो सही न जाति रात दिन
सोई बाँह गही जो गही समीरडावरे ॥ ३७॥

किंतु धीरे-धीरे वह शरीरभर में फैल गई थी—

पाँय पीर पेट पीर बाहु पीर मुँह पीर
जरजर सकल सरीर पीरमई है ॥ ३८ ॥

¹ 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी', पृ० १४२

² 'नागरीप्रचारिणीपत्रिका', भाग ७, अंक४, पृ० ४०९

और, और पीछे शरीरभर में फोड़े निकल आए थे—

तातें तनु पेषियत घोर बरतोरमिस
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ॥ ४१ ॥

यह कुल वर्णन वात-विकार-जनित रुधिर-विकार सूचित करता है। शरीर-भरमें बरतोरके-से फोड़ोंका निकलकर नि सर बहते रहनेकी कल्पना-मात्र भयानक है, फलतः गोस्वामीजीको जितनी पीडा इससे रही होगी वह कल्पनातीत है। उनकी दशा कुछ दिनतक सुधरी नहीं, और संभवतः उसीके कारण उनके मनसे देवताओंकी ओरसे विश्वास उठ गया था। मृत्युकी आशंका उन्हें होने लगी थी, फिरभी उन्हें रामका भरोसा शेष था—

जीवौं जग जानकीजीवन को कहाइ जन
मरिवेको बारानसी बारि सुरसरिको।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसे ठाउँ
जाके जिए मुए सोच करिहैं न लरिको।
मोको झूठो साँचो लोग रामको कहत सब
मेरे मन मान है न हरको न हरिको।
भारी पीर दुसह सरीरते बिहाल होत
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को ॥ ४२ ॥

इस समय गोस्वामीजीके नेत्रोंके आगे हनुमान, राम और शिवका ध्यान था, वे अपने तीनों इष्टदेवोंसे एकबार फिर बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें पीडाके शमनके लिए प्रार्थना करते हैं—

कपिनाथ रघुनाथ भोलानाथ भूतनाथ
रोगसिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै ॥ ४३ ॥

किंतु अंतमें उन्हें कदाचित् निराश ही होना पड़ता है, और वे नीचेके छंदके साथ 'बाहुक' समाप्त करते हैं—

कहौं हनुमानसों सुजान रामरायसों
कृपानिधान संकरसों सावधान सुनिए।
हरष बिषाद राग रोष गुन दोषमई
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिए॥
माया जीव कालके करमके सुभायके
करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिए।
तुमते कहा न होय हाहा सो बुझैये मोहि
हौं हूँ रहौं मौन ह्वै बयो सो जानि लुनिए ॥ ४४॥

गोस्वामीजीको यह पीड़ा जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वर्षाऋतुमें हुई थी, और श्रावण मासमें उनका देहांत होना माना ही जाता है। इस पीड़ाकी शांतिका कोई

उल्लेख हमें 'बाहुक' अथवा 'कवितावली' के छंदोंमें नहीं मिलता। संभव है बाहुपीड़ा सं० १६८० के किसी प्रारंभिक मासमें प्रारंभ हुई हो और श्रावण मासमें उसीसे उनका देहांत हुआ हो। यदि हम बाहुपीड़ासे ही गोस्वामीजीका देहांत मानें, तो 'बाहुक' के छंदोंका रचना काल सं० १६८० होता है। किंतु बाहुपीड़ाका समय अन्य प्रकारसे नितांत निश्चित नहीं है। अभी इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि बाहुपीड़ा गोस्वामीजीके अंतिम दिनोंमें हुई थी।[1] फलतः यह निस्संदेह है कि 'बाहुक' गोस्वामीजीकी निरी अंतिम रचनाओंमें से है।

कुछ लोगोंने बाहुपीड़ाको प्लेगकी गिल्टी माना है। किंतु, महामारीकी शांतिका स्पष्ट उल्लेख 'कवितावली' के अंतिम छंदमें हुआ है। महामारी अधिक-तर चैत्रतक ही शांत हो जाती है। वह अधिकसे अधिक वैशाखतक जा सकती है—ज्येष्ठमें भी वह कदाचित् ही कहीं सुनी जाय। फिर, श्रावणमें प्लेगसे मृत्यु हो यह कम संभव जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त, 'बाहुक' के वर्णनसे प्लेगका एक भी लक्षण प्रकट नहीं होता[2], और पूरे वर्णनको पढ़नेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पीड़ा कई दिनोंतक, कदाचित् एकाध महीनेतक, बनी रही, जब-कि प्लेगसे दो तीन दिनमें ही शरीरांत हो जाता है। ऐसी दशामें यह कल्पना निराधार-सी लगती है कि गोस्वामीजीकी मृत्यु प्लेगसे हुई।

कवितावली

'कवितावली' एक स्फुट-काव्य-ग्रंथ है, और इसमें अंतिम-प्रयाणतक का एक छंद है, इसलिए अधिक संभावना इस बातकी है कि इसका संग्रह गोस्वामीजीके देहांतके उपरांत हुआ हो। इसप्रकार, एक ओर सं० १६८० तककी रचना इसमें है, दूसरी ओर वेणीमाधवदास लिखते हैं कि गोस्वामीजी ने सं० १६२८ में सीतावटके नीचे कुछ सुंदर कवित्तोंकी रचना की।[3] 'कवितावली' के तीन छंदोंमें सीतावटकी प्रशंसा अवश्य कीगई है[4], जिससे यह संभव प्रतीत होता है कि कदाचित् उनकी रचना सीतावटके नीचे हुई हो। किंतु, उनके रचना-कालपर

---

१ देखिए लेखकका 'कवितावली और तुलसीदासके अंतिम दिन' शीर्षक निबंध।

२ बाबू शिवनंदनसहाय लिखते हैं ('श्रीगोस्वामी तुलसीदास', पृ० १४२)—

'प्लेगकी बीमारीमें जहाँ तक देखा जाता है और जहाँ तक हमें डाक्टरों से ज्ञात हुआ है रोगके आक्रमणके साथ या थोड़े ही काल पीछे हृदय तथा मस्तिष्क दुर्बल होने लगता है, बुरे प्रकारका प्लेग होनेसे मनुष्य शीघ्र ही संज्ञा शून्य भी हो जाता है। तब यह आश्चर्य की बात है कि 'बाहुक' ऐसी उत्कृष्ट रचना हो।'

३ 'मूल गोसाईंचरित' दो० ३५

४ 'कवितावली', उत्तर०, १३८ १३९ और १४०

यदि संदेह किया जाय तो कोई अन्य साक्ष्य वेणीमाधवदासकी उक्त तिथिका समर्थन अथवा विरोध नहीं करता।

'कवितावली' इतनी स्फुट रचना है कि 'मानस' के साथ उसकी कथाकी तुलना उसके रचना-कालपर विशेष प्रकाश न डालेगी। फिरभी, 'कवितावली' के कुछ छंद निश्चय ही 'मानस' और 'गीतावली'की रचनाके बीचके होंगे। हमने ऊपर देखा है कि 'गीतावली' में लक्ष्मण-परशुराम-संवाद नहीं है। किंतु वह 'कवितावली'में है, और वह 'मानस'के उक्त संवादसे बहुत साम्य रखता है। अतः यह जान पड़ता है 'कवितावली'का उक्त प्रसंग 'मानस' (सं० १६३१) के लगभगकी रचना होगी।

'कवितावली'में माधुर्य भी यथेष्ट है। बहुत कुछ संभव है कि ऐसे छंदोंकी रचना, जिनमें माधुर्य प्रधान है और सौंदर्यकी विभूति परिलक्षित होती है, 'गीतावली'के लगभग हुई हो। कई स्थानोंपर 'कवितावली'के छंदोंमें 'गीतावली' के पदोंका वाक्य-विन्यास भी आ गया है, उदाहरणार्थ—

गीतावली —मोद प्रभुकर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥ बाल० ९१

कवितावली—तुलसी सो रामके सरोज पानि परसत ही
टूट्यो मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है॥ बाल० १०

ऐसे छंदोंकी रचना अनुमानतः 'गीतावली'के रचना-काल (अनुमानतः सं० १६४४-४८) के लगभग हुई होगी।

'कवितावली'के उत्तरकांडमें पाँच छंद कृष्ण-चरित्रसे संबंध रखनेवाले हैं, और उनमें से अंतिम तीन भ्रमर-गीत-प्रसंगके[1] हैं, इन छंदोंकी रचना यदि 'कृष्णगीतावली' के रचना-काल (सं० १६४६ ५०) के लगभग हुई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

'कवितावली' के उत्तरकांडमें ऐसे छंद अधिकतर मिलेंगे जो 'विनयपत्रिका' के अनेक पदोंसे अद्भुत भावसाम्य रखते हैं। कितने तो ऐसे हैं जिनमें वाक्य-विन्यास और कल्पनामें भी साम्य मिलेगा। इसके अतिरिक्त, जिस शीलका निरूपण गोस्वामीजीने 'विनयपत्रिका' में किया है वही 'कवितावली' के उत्तरकांडके भी अधिकांशका विषय है, जिसप्रकारका दैन्य, स्वामीकी उदारताका एकमात्र अवलंबन तथा कलिकालके कष्टोंसे त्राणके लिए आर्त निवेदन 'विनयपत्रिका' में है उसीप्रकारका—यद्यपि उतना तीव्र कदाचित् इसलिए नहीं कि 'विनयपत्रिका' एक गीतिकाव्य भी है—'कवितावली' के उत्तरकांडमें भी है। अतएव, दोनोंके विषय

[1] 'कवितावली', उत्तर० १३३—१३५

तथा उसके प्रतिपादनमें साम्य स्पष्ट है। दोनोंमें एक और भी उल्लेखयोग्य साम्य है, वह है उनमें आए हुए गोस्वामीजीके जीवनवृत्तमें। अपने जीवनकी ओर जैसा संकेत उन्होंने 'विनयपत्रिका' के कुछ पदोंमें किया है, वैसा ही यद्यपि उससे भी अधिक उन्होंने 'कवितावली' के उत्तरकांडमें किया है—यहाँतक कि उनका शब्दविन्यास भी लगभग एक ही है। इन उपर्युक्त कुल साम्योंको उदाहरण देकर दिखानेमें ज्ञानवृद्धिकी अपेक्षा निबंध की कलेवरवृद्धि कहीं अधिक होगी, अतः बहुत थोड़ेमें उदाहरणोंसे ही संतोष करना उचित होगा—

कवितावली—नाँगो फिरै कहै माँगनो देखि न खाँगो कछू जनि माँगिए थोरो।
रांकनि नाकप रीझि करै तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो॥
नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं नाहिं पिनाकिहिं नेकु निहोरो।
ब्रह्म कहै गिरिजा सिखवो पति रावरो दानि है बावरो भोरो॥
उत्तर० १५३

विनयपत्रिका—बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दए बिनु बेद बड़ाई भानी।
निज घरकी बरबात बिलोकहु तुम हौ परम सयानी।
सिवकी दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक सँवारत हौं आयो नकबानी॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिए औरहिं भीख भली मैं जानी॥
प्रेम प्रसंसा बिनय ब्यंग जुत सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिंमन जगतमातु मुसुकानी॥ ५॥

कवितावली—देवसरि सेवौं बामदेव गाँव रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
...
ग्लोपर हूँ जो कोऊ 'रावरो हौं' जोर करै
ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं॥ उत्तर० १६५

विनयपत्रिका—गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे।
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥ ८॥

कवितावली—हनुमान हैं कृपालु लाडिले लखन लाल
भावते भरत कीजै सेवकसहाय जू।
बिनती करत दीन दूबरो दयावनो सो
बिगरेते आपु ही सुधारि लीजै भाय जू॥

मेरी साहिबिनि सदा सीसपर बिलसति
देवि क्यों न दासको दिखायत पाय जू।
खीझहू मैं रीझिबेकी बानि राम रीझत हैं
रीझे ह्वैहैं रामकी दुहाई रघुराय जू॥ उत्तर० १३६

विनयपत्रिका—पवनसुवन, रिपुदमन भरत लाल लखन दीनकी।
निज निज अवसर सुधि किए बलि जाउँ आस पूजिहै खास खीनकी।
राजद्वार भली सब कहैं साधु समीचीनकी।
सुकृत सुजस साहिबकृपा स्वारथ परमारथ गति भए गतिविहीनकी।
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीनकी।
प्रीतिरीति समुझाइबी नतपालकृपालुहि परमिति पराधीनकी॥ २६८॥

ऊपर 'विनयपत्रिका' के जो तीन पद उद्धृत किए गए हैं उनमें से प्रथम तो स० १६६६ की प्रतिमें है, शेष दो नहीं है। उपर्युक्त प्रति में संगृहीत पदोंका रचना-काल हम ऊपर स० १६५६-६६ के लगभग तथा उसमें न मिलनेवाले 'विनयपत्रिका' के पदोंका स० १६६८ तकके लगभग मान चुके हैं। फलत. यदि ऊपर उद्धृत 'कवितावली' के छन्दोंकी रचना स० १६५६ से स० १६६८ तकके लगभग हुई मानें तो कदाचित् कोई हानि न होगी।

'कवितावली' में ऐसे अनेक छन्द हैं जो स्पष्ट कविकी जरावस्थाकी ओर सकेत करते हैं—

जरठाइ दिसा रवि काल उग्यो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे॥ उत्तर० ३१
काल बिलोकि कहै तुलसी मनमें प्रभुकी परतीति अघाई॥ उत्तर० ५८
कीजै न बिलंब बलि पानी भरी खाल है॥ उत्तर० ६५
अब चोर जरा जरि गात गयो मन मानि गलानि कुवानि न मूकी॥ उत्तर० ८८
कियो न कछू करिबो न कछू कहिबो न कछू मरिबोई रह्यो है॥ उत्तर० ९१

ऐसे छन्दोंकी रचना यदि 'बरवै' के उन कई छन्दोंके लगभग हुई हो जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं[१] तो कुछ आश्चर्य नहीं।

'कवितावली के अतिम छन्दोंमें कविने अपने अतिम दिनोंकी कथा कही है। उसकी रचनाओंमें से यह अश उसके जीवनपर प्रकाश डालनेके लिए सबसे अधिक मूल्यवान है। किंतु यह अश कदाचित् घटना क्रमके अनुसार सपादित नहीं है। छन्दोंके समह-क्रमको स्पष्ट करनेके लिए नीचे एक तालिका दी जाती है—
उत्तर० १६६-१६८—शिव से किसी विषम वेदना (कदाचित् बाहुपीड़ा) की निवृत्तिके विषयमें निवेदन।

[१] देखिए इसी निबंधमें पृ० ८४

१६६-१७२—काशीकी दुर्दशा और रुद्रबीसी।
१७३-१७६—काशीमें महामारी (महामारीके वर्णनमें कविने कहीं और कोई संकेत नहीं किया है, यह ध्यान देने योग्य है)।
१७७-१७८—मीनकी सनीचरीका उल्लेख तथा रामसे प्रार्थना।
१७६ —उत्पातकी शांतिपर दृढ़ विश्वास।
१८० —प्रयाग-समयका क्षेमकरी-दर्शन।
१८१-१८२—काशीकी रक्षाके लिए हनुमान तथा रामसे प्रार्थना।
१८३ —'महामारीको रामने शांत कर दिया'—यह उल्लेख।

संक्षेपमें, वर्णनके तारतम्यसे घटनाएँ इस क्रममें आती हैं—

विषम वेदना, रुद्रबीसी, महामारी, मीनकी सनीचरी, क्षेमकरी-दर्शन तथा महामारीकी शांति। और, घटना-क्रमसे कदाचित् इन्हें इसप्रकार आना चाहिए—रुद्रबीसी, मीनकी सनीचरी, महामारी और उसकी शांति, विषम वेदना, प्रयाग-समयका क्षेमकरी-दर्शन। अतएव, नीचे इसी पिछले क्रमसे इनपर विचार होगा।

रुद्रबीसीका समय सं० १६६५ से सं० १६८५ तक माना जाता है। इस समय काशीमें बड़ा उत्पात मचा हुआ था—

> बीसी विस्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी
> बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की॥ उत्तर० १७०॥

छंद १६६ से १७२ तकमें काशीकी यह दुर्दशा वर्णित है, और रुद्रबीसीका भी उल्लेख उसी प्रसंगमें किया गया है। कुल दुर्दशाका उत्तरदायित्व कलिपर छोड़ दिया गया है। इन छंदोंकी रचना संभवतः मीनकी सनीचरीसे पूर्व अर्थात् सं० १६६८-१६६६ के लगभगकी होगी।

मीनकी सनीचरी सं० १६६६ से १६७१ तक थी। काशी-निवासियोंको एक तो कलिसे ही दुःख था, इस सनीचरीने उसे और भी द्विगुण कर दिया था—

> एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें
> कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की॥ उत्तर० १७७॥

यह अंश जिस छंदका है उसकी रचना सं० १६६६-७१ की होगी।

महामारीके संबंधमें हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं।[1] यहाँ हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं, कि काशीमें महामारी का समय संभवतः सं० १६७८-७६

[1] देखिए इसी संग्रहमें संगृहीत 'कवितावली और तुलसीदासके अंतिम दिन' शीर्षक लेख।

होगा, फिर भी, इस संबंधमें दृढ़तापूर्वक कहनेके लिए हमारे पास पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। काशीमें उसका प्रकोप अवश्य हुआ था, और वह भयानक भी बहुत था यह गोस्वामीजीके वर्णनसे ही स्पष्ट है।[१] महामारीका उल्लेख भी स्पष्ट रूपसे उन्होंने उत्तरकांडमें अनेक बार किया है—

रोष महामारी परितोष महतारी
दुनी देखिये दुखारी मुनि मानसमरालिके ॥ १७३ ॥
महामारी महेशानि महिमा की खानि
मोद मंगलकी रासि दास काशीबासी तेरे हैं ॥१७४॥
देवता निहोरे महामारिनसों कर जोरे
भोरानाथ भोरे जानि अपनी सी ठई है ॥ १७५ ॥
संकरसहर सर नरनारि बारिचर
विकल सकल महामारी माँजा भई है ॥ १७६ ॥

फलतः, महामारी-संबंधी इन छंदोंकी रचना संभवतः सं० १६७८-७९ के लगभग हुई होगी।

किंतु 'मूल गोसाईंचरित' में वेणीमाधवदासने लिखा है—

माधव सित सियजनमतिथि, ब्यालिस संवत बीच।
सतसैया बरनै लगे, प्रेमबारिते सींच ॥ ५६ ॥
उतरु सनीचर मीन, मरी परी कासी पुरी।
लोगन हैं अति दीन, जाइ पुकारे कवि निकट ॥ १६ ॥
करुणामय मुनि सुनि व्यथा, तत्रकवित्त बनाय।
करुणानिधिसों विनय करि, दीनी मरी भगाय ॥ ५७ ॥

—जिसका आशय यह है कि सं० १६४२ में 'सतसई' का आरंभ वैशाख शु० ९ को हुआ तदनंतर मीनके शनिके उतर जानेपर काशीमें मरी पड़ी, जिसे गोस्वामीजीने तंत्रकवित्तों-द्वारा ईश्वरसे विनय करके भगा दिया। सर जार्ज ग्रियर्सनने गोस्वामीजीके जीवन-कालमें दो बार मीनके शनिके पड़नेका उल्लेख किया है—

(क) चैत्र शु० २, सं० १६४० से ज्येष्ठ, सं० १६४२ तक। और
(ख) चैत्र शु० २, सं० १६६९ से ज्येष्ठ, सं० १६७१ तक।

और 'कवितावली' में जिस मीनके शनिका उल्लेख है, उसे उन्होंने दूसरी बारका माना है—कदाचित् वही ठीक भी है, क्योंकि प्लेगके समयके वही निकट पड़ता है। किंतु वेणीमाधवदासके कथनमें कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम, इतिहाससे यह सिद्ध नहीं है कि सं० १६४२-४३ में महामारीका आक्रमण हुआ था। दूसरे, वे

[१] 'कवितावली', उत्तर० १७३, १७४, १७५, १७६ तथा १८३

संभवतः कवित्त भी जिनके द्वारा गोस्वामीजीने 'बरदामय' से विनय करके महामारीको भगा दिया था अबतक किसीके देखनेमें नहीं आए—कमसे कम 'कवितावली' में ये नहीं हैं।

'कवितावली' के उत्तरकांडमें, किसी 'विषम वेदना' के विषयमें भी गोस्वामीजीने शिवसे बड़े कातर शब्दोंमें निवेदन किया है—

अभिभूत बेदन बिषम होत भूतनाथ तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तौ अनायास कासी बास खास फल ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं॥ १६६ ॥
रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को भूतनाथ पाहि पदपंकज गहत हौं।
ज्याइए तौ जानकीरमनजन जानि जिय मारिए तौ माँगी मीचु सूधियै कहत हौं॥ १६७ ॥

बहुत संभावना इस बातकी है, कि यह वेदना बाहुपीड़ाकी ही रही हो, जिस का स्पष्ट उल्लेख इन छंदोंमें नहीं आता, किंतु यदि यह न भी हो तो इस बातकी पर्याप्त संभावना है कि यह बाहुपीड़ाकी अग्रगामिनी कोई पीड़ा थी, जिसका मूल-कारण वात विकार रहा होगा। इसप्रकार, उपर्युक्त वर्णन जिन छंदोंमें है उनकी रचना कदाचित् सं० १६८० या उसके कुछ ही पूर्वकी होगी क्योंकि बाहुपीड़ा संबंधी छंदोंका रचना काल सं० १६८० के लगभग ऊपर माना जा चुका है।[1]

प्रयाण-कालीन क्षेमकरीके शुभ दर्शनका उल्लेख बड़ी सुंदरतापूर्वक एक छंदमें किया गया है, जो संग्रह क्रमके अनुसार 'कवितावली' का अंतिम नहीं प्रत्युत अंतसे तीसरा छंद है। यही कदाचित् गोस्वामीजीकी अंतिम रचना है।

इसप्रकार, हम देखते हैं कि 'कवितावली' के स्फुट छंदोंकी रचना एक विस्तृत समयके भीतर हुई। उसका संपादन कब और किसने किया, यह एक अच्छा प्रश्न है। संभव है, अपने जीवन कालमें ही गोस्वामीजीने 'कवितावली' नामसे कोई संग्रह किया हो, किंतु ऐसे अंतिम रचनाके भी इसमें संगृहीत होनेके कारण यह अनुमान करना कदाचित् अनुचित न होगा कि इसका संपादन उनके देहांतके पीछे कदाचित् उनके किसी शिष्यने किया होगा।

उपसंहार

गोस्वामीजीका ग्रंथ-रचनाकाल मोटे तौरपर सं० १६११ से प्रारंभ होकर सं० १६८० तक चलता है, और इसप्रकार वह लगभग ७० वर्षका होता है। अतएव, गोस्वामीजीकी प्रतिभाकी प्रगतिपर समष्टिरूपसे विचार करनेके लिए हमें

[1] देखिए इसी निबंध में 'बाहुक' का रचना काल संबंधी विवेचन पृ० ७९

इस पूरे समयको तीन—पूर्व, मध्य, तथा उत्तर—कालोंमें विभाजित कर लेनेमें सुभीता होगा —

(क) पूर्व रचना-काल—सं० १६११ से सं० १६३० तक।

(ख) मध्य " " —सं० १६३१ से सं० १६५५ तक।

(ग) उत्तर " " —सं० १६५६ से सं० १६८० तक।

पूर्व रचना-काल—'रामललानहछू', 'जानकीमंगल', 'रामाज्ञा', तथा 'वैराग्यसंदीपिनी';

मध्य रचना-काल—'रामचरितमानस', 'सतसई', 'पार्वतीमंगल', 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली'; और

उत्तर रचना-काल—'विनयपत्रिका', 'बरवै', 'दोहावली', 'बाहुक' तथा 'कवितावली'।

इन ग्रंथोंपर हम छंद, प्रबंध, शैली, बुद्धि-तत्व, हृदय-तत्व तथा आत्म-तत्वकी दृष्टियोंसे विचार करेंगे, किंतु सुविधाके लिए रचनाकाल-विभाजनके अनुसार चलेंगे।

पूर्व रचना-काल—'रामललानहछू' में सोहर छंदका प्रयोग हुआ है, किंतु वह ग्रामीण है और अपने वास्तविक रूपमें है। 'जानकीमंगल' में भी वह छंद व्यवहृत हुआ है, किंतु हरिगीतिका छंदकी सहायतासे उसे बहुत कुछ साहित्यिक रूप मिल गया है, और इसप्रकार वह विवाहादि-संबंधी खंड-काव्यमें प्रयुक्त होनेके उपयुक्त बन गया है। 'रामाज्ञा' में दोहोंका प्रयोग किया गया है, और 'वैराग्यसंदीपिनी' में भी, किंतु 'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहोंके बीच-बीच सोरठोंका भी प्रयोग हुआ है, जो विश्रामस्थल-निर्माणकी ओर प्रयास-सा जान पड़ता है। 'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहे और सोरठेके साथ चौपाईयोंका भी प्रयोग किया गया है, किंतु वह बहुत विषम है। इन छंदोंका सामंजस्य 'वैराग्यसंदीपिनी' में नहीं हो सका है।

प्रबंधकी दृष्टिसे 'रामललानहछू' एक बहुत छोटा प्रबंध-काव्य होते हुए भी जितना सदोष है, उतना अन्य कोई नहीं। 'जानकीमंगल' भी 'रामललानहछू' के ढंगका काव्य है, किंतु उसमें प्रबंध-दोष एक भी नहीं है। 'रामाज्ञा' में विचारणीय प्रबंध-दोष अवश्य आगया है। प्रबंधकी दृष्टिसे उसकी पहली त्रुटि यह है कि पहले सर्गकी पूरी कथा चौथे सर्गमें दुहराई गई है, फिर भी चौथे सर्गमें वह उतनी सुंदर नहीं बन पड़ी है जितनी पहलेमें। चौथे सर्गका संबंध आगे-पीछेवाले सर्गोंसे नितांत नहीं है। 'रामाज्ञा' में यह त्रुटि संभव है उसे सात सर्गोंमें पूरा करनेकी अनिवार्य आवश्यकताके कारण आगई हो—क्योंकि संभव है पूरी रामकथा कह डालनेपर वह छः सर्गोंमें ही समाप्त होगई हो और प्रकृत की

दृष्टिसे सात सर्गोंका निर्माण अनिवार्य रहा हो, इसलिए कविने पुन रामकथा उठाई हो और एक सर्गमें यह उतनी ही आवश्यी हो जितना यह चौथे सर्गमें है। यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि उसे आदि अथवा अन्तमें न रखकर मध्यमें गोस्वामीजीने क्यों रखा। आदिमें रखना तो कदाचित् ठीक न होता, क्योंकि इसको प्रथम सर्गके मात्रही पढ़नेपर पूरा पुनरावृत्ति होती, और अन्तमें रखनेपर यथार्थ समाप्ति न हो पाती, और एक बार पूरी कथाका समावेश हो जानेपर भी ग्रंथ अधूरा-सा लगता। कदाचित् इसीलिए इस सर्गको गोस्वामीजीने बीचो बीच रक्खा। 'रामाज्ञा' में प्रबन्धकी दृष्टिसे एक दूसरी त्रुटि यह है कि उसमें रामकथा तथा शकुन विचारका अनमेल विवाह है—दोनोंकी प्रकृति नितान्त भिन्न होते हुए भी दोहेकी पहिली पंक्ति रामकथाका कोई अंश कहती है और दूसरी शकुनकी सूचना देती है। किंतु 'वैराग्यसंदीपिनी' में ऐसी त्रुटियाँ नहीं है। उसका विषय भी एक वैराग्य मात्र है और वह 'रामाज्ञा' की भाँति विभाजित नहीं है। फिर भी उसके प्रबंधमें कोई चातुर्य नहीं है। पूरा विषय सन्त-स्वभाव, संत-महिमा, तथा शांति-वर्णन नामक तीन शीर्षकोंमें किसी प्रकार खपा दिया गया है।

शैलीकी दृष्टिसे भी 'रामललानहछू' का स्थान सबसे नीचा है। उसकी भाषा ग्रामीण तथा अलंकार विहीन अवधी है। भावोंके व्यक्तीकरण भी उसमें भद्दे ढंगपर हुए हैं। 'जानकीमंगल' की शैली उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ है, उसकी भाषा भी बहुत कम ग्रामीण, साधारण अलंकारोंसे युक्त, और कुछ साहित्यिक अवधी है, और वह भावोंको व्यक्त करनेके लिए लगभग पर्याप्त हुई है। 'रामाज्ञा' की शैली अधिक काव्योचित और परिष्कृत है। दो विषयोंका समावेश अनिवार्य होनेके कारण उसमें शिथिलता अवश्य आगई है फिर भी काव्य भाषाकी ओर प्रगति उसमें परिलक्षित होती है। 'वैराग्यसंदीपिनी' में 'रामाज्ञा'-वाली बाधा न होते हुए भी विषयका प्रतिपादन विवेचनात्मक होनेके कारण शैलीके दृष्टि-कोणसे सफलता कम मिली है। उसमें जिस शैलीके निर्माणकी ओर प्रयोग किया गया है वह विकसित होनेपर महाकाव्यमें प्रयुक्त हो सकती थी, और हुई भी है।

पूर्वकालीन रचनाओंमें बुद्धि तत्व अप्रस्फुटित है। न उनमें विचारोंकी सूक्ष्मता मिल सकती है और न भावद्वन्द्व। उनमें महाकविकी प्रतिभा अंधेरेमें अपना मार्ग ढूँढ रही है।

हृदय-तत्व और रसके नाते 'रामललानहछू' में शृंगार-मात्र है, और वह भी निम्न-कोटिका—परकीया अनुरक्तिके सामने आदर्श च्युतिका ध्यान नहीं

रक्खा गया है। परिहास भी उसमें अशिष्ट है। 'जानकीमंगल' में भी यद्यपि शृंगार-रस प्रधान है, किंतु वह निम्न-कोटिका नहीं है—न उच्च कोटिका ही—वह मध्यम-कोटिका है और 'रामललानहछू' के दोषोंसे मुक्त है। 'रामाज्ञा' में तो कोई रस ही नहीं है—उसके शकुन-विचारने सबपर पानी फेर दिया है। वैराग्य संदीपिनी' में शांतरस अवश्य है, किंतु उसमें उस रसके आलंबन, उद्दीपन, आश्रय आदिका विवेचन होनेके कारण वह एक लक्षण-ग्रंथ-सा हो गया है, और रस-परिपाक विषयकी शुष्कताके कारण उसमें नहीं हो सका है।

आत्म-तत्त्वकी दृष्टिसे पूर्व रचना-काल की कृतियोंमें केवल 'रामाज्ञा' का सप्तम सर्ग और 'वैराग्यसंदीपिनी' ही विचारणीय हैं, अन्य नहीं। 'रामाज्ञा' में, 'वैराग्यसंदीपिनी' की अपेक्षा यह तत्त्व बहुत कम है। 'वैराग्यसंदीपिनी' का तो विषय ही आत्म-तत्त्वसे संबंध रखता है, और उसमें वास्तविक आत्म-संदेश अवश्य है।

मध्य रचना-काल—इस कालका प्रारंभ ऊपर सं० १६३१ से हुआ माना जा चुका है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि तुलना करनेपर पूर्व रचना-कालकी कृतियों से इस कालकी कृतियोंमें कोई भ्रांति परिलक्षित होती है, फिर भी दोनों की कोटियों में इतना अंतर अवश्य है कि कविकी प्रतिभाके विकासकी प्रगति हुत रही यह निर्विवाद जान पड़ता है।

'रामचरितमानस' की रचना दोहों चौपाइयों, सोरठों और हरिगीतिका छंदोंमें अधिकांश हुई है, अन्य छंद इनकी तुलनामें नगण्य हैं। यद्यपि गोस्वामी जीने तत्वतः 'मानस' में उसी परिपाटीका व्यवहार किया है जिसको हिंदीके सूफी कवि पहले ही अच्छी तरह माँज चुके थे, किंतु गोस्वामीने उसमें चमक पैदा कर दी है। छंदोंकी दृष्टिसे भी दोहा चौपाईके अतिरिक्त हरिगीतिका आदि अन्य छंदोंके यत्र तत्र प्रयोगसे उसमें अधिक साहित्यिकता आगई है और उसमें मस-नवी-पन नहीं घुसने पाया है। जायसीके 'पद्मावत' को जो अन्य सूफी कथानकोंसे अधिक सफल हुआ है पढ़नेपर थकावट सी लगने लगती है। इसका सबसे बड़ा कारण कदाचित उसमें दो ही छंदोंका एक सा व्यवहार है। उसमें गिनती के दो ही छंद प्रयुक्त हुए हैं दोहा और चौपाई। किंतु, गोस्वामीजीने 'मानस' में इस त्रुटिको भलीभाँति दूर कर दिया है। 'सतसई' की रचना केवल दोहोंमें हुई है, और वे 'रामाज्ञा' और वैराग्यसंदीपिनी' दोनोंके दोहोंकी अपेक्षा अधिक सफल भी हुए हैं। 'पार्वतीमंगल' के छंदोंमें 'जानकीमंगल' के छंदोंकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' में अवश्य छंदोंका चुनाव नया हुआ है—अभीतक गोस्वामीजीने पदोंमें कोई ग्रंथ नहीं प्रस्तुत किया था—किंतु उसमें कोई मौलिकता नहीं है। मीराँबाई, कबीर आदिने तो पदोंमें

हो। उसमें वह पूर्णता नहीं है जो किसी शैलीको एक आदर्श शैली बना देती है। 'पार्वतीमंगल'की शैली निरी माध्यमिक है—उसमें न शिथिलता है और न प्रौढ़ता। शब्दोंका सुव्यवस्थित प्रयोग उसमें अवश्य हुआ है, जिससे उसमें एक धारा-सी लक्षित होती है। भाषा भावों की समकक्ष है, और वह केवल पर्याप्त हुई है। उसमें सरसता विशेष नहीं है, फिर भी प्रसादगुण पर्याप्त है। भिन्न भिन्न विषयोंमें उसका प्रयोग असंभव है, अतएव उसमें व्यापकता भी नहीं है। एक सामान्य शब्द भंडार पर्याप्त हुआ है। 'गीतावली' की शैली भी स्पष्ट ही माध्यमिक है। एक परिष्कृत ब्रजभाषाका शब्द-भंडार यथेष्ट हुआ है। भाषा भावों की सहगामिनी है। उसमें प्रसादगुण विशेष है। शैली पूरे ग्रंथभरमें लगभग एक सी है, और उसमें सरसता भी है, किन्तु गीतिकाव्यकी शैली इससे कुछ भिन्न होती है। 'गीतावली' की शैलीसे रचना प्रयास परिलक्षित होता है—गीतकाव्योंके अनियन्त्रित उद्गारों के व्यक्तीकरणमें यह कहाँ संभव है? कृष्णगीतावली की शैली गीतावली की शैलीकी अपेक्षा कुछ अधिक प्रौढ़ और अधिक स्वाभाविक अवश्य है, यद्यपि विशेष नहीं। कदाचित् इसका कारण कविका स्वयं उस शैलीमें कुछ अभ्यस्त होजाना हो, किन्तु 'कृष्णगीतावली' की रचनातक बड़े-बड़े कवियों द्वारा उसीकी शैलीमें इतना बड़ा साहित्य सफलतापूर्वक निर्मित होचुका था, और कृष्ण चरित्रके संबंधमें ब्रजभाषाका शब्द भंडार इतना पूर्ण हो चुका था, कि यदि 'गीतावली' की अपेक्षा उसमें इस कारण भी विशेषता दिखाई पड़ता हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। वस्तुतः 'कृष्णगीतावली' की शैलीमें मौलिकता नहीं है—क्या शब्द भंडार और क्या विषयको प्रस्तुत करनेका ढंग, सभी एक रूढ़िकी उपज जान पड़ते हैं।

बुद्धि तत्वकी दृष्टिसे 'मानस' का स्थान तुलसी ग्रंथावलीमें सबसे ऊँचा है। उसकी रचनाके लिए गोस्वामीजीने कमसे कम २० बड़े ग्रंथोंका सम्यक् अध्ययन किया था और 'मानस' में यथा स्थान उनसे कुछ अंश ग्रहणकर बड़ा सारग्राहिताका परिचय दिया है। चरित्र चित्रण 'मानस' की सबसे प्रधान वस्तु है, और इसमें संदेह नहीं, कि चरित्र निर्माणमें ही गोस्वामीजीने सबसे अधिक मौलिकता दिखाई है। विचारोंका तो 'मानस' अथाह समुद्र है, जिसमें कितने ही विद्वान् भी आजन्म निरंतर आनंदपूर्ण अवगाहन करते हैं। मनोविज्ञान-मय सूक्ष्म विचार विश्लेषण, भावद्वंद्व तथा जीवनकी अनेक परिस्थितियोंका समावेश, सभी 'मानस' में कविके बुद्धि-तत्वकी एक अद्भुत ज्योतिका समर्थन करते हैं। 'सतसई' में ऐसी कोई विशेषता नहीं है। दार्शनिक तत्वोंका प्रतिपादन उसमें पूर्ण और परिपक्व अवश्य है, किंतु अन्य दृष्टियोंसे उसका बुद्धि-तत्व बहुत उच्च

कोटिका नहीं है। उपदेशों और राजनीतिके दोहोंमें अनुभव झलकता है। किन्तु तीसरे सर्गमें लगभग एक सौ टेढ़े-मेढ़े दृष्टिकूट दोहों द्वारा रामनामका जो उपदेश दिया गया है वह दिमाग़ी कसरतके अतिरिक्त किसी दृष्टिसे महत्वपूर्ण नहीं है। इन प्रयासोंसे रामनाममें अनुराग उत्पन्न होना तो दूर, अरुचि उत्पन्न होनेका भय ही विशेष है। 'पार्वतीमंगल' तथा 'गीतावली' में गोस्वामीजीकी विचारशीलताका परिचय अवश्य मिलता है, और उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'कृष्णगीतावली' में मौलिकता नहींके बराबर है, इसलिए उसमें बुद्धि-तत्त्वको ढूँढ़नेका प्रयास निरर्थक होगा।

हृदय तत्त्वकी दृष्टिसे भी विचार करनेपर 'मानस' माध्यमिक रचनाओंमें सर्वश्रेष्ठ है। 'मानस'में नवरस-परिपाक बड़ी उत्तमताके साथ हुआ है। सौंदर्यकी भावना उसमें स्थान-स्थानपर मिलती है। 'सतसई' में न कोई रस है, और न सौंदर्य। 'पार्वती मंगल' में भी रसकी मात्रा साधारण है। 'गीतावली' कहनेको तो गीतिकाव्य है, किन्तु वर्णन—कथावर्णन और वस्तुवर्णन—ने उसे वास्तविक गीतिकाव्य कहे जानेके अयोग्य बना रक्खा है। पूरे ग्रंथका लगभग तीन चौथाई भाग वर्णनने ले लिया है, और केवल शेष एक चौथाईके लगभगमें रसका परिपाक होसका है, वह भी केवल वात्सल्य और करुणरसोंतक सीमित है। फिर भी काव्यकी दृष्टिसे यह अंश निस्संदेह उत्कृष्ट है। 'कृष्णगीतावली' सरसतामें 'गीतावली' की अपेक्षा कुछ आगे अवश्य है, किंतु इस सरसतामें भी मौलिकता कदाचित् बहुत कम है।

आत्माका संदेश 'मानस' में प्रचुरतासे मिलता है। उसके पढ़नेके अनन्तर अगणित मनुष्योंने पाप प्रवृत्तिसे त्राण पाया है। उत्तरी भारतमें करोड़ों मनुष्यों—स्त्री पुरुषों—का यही एकमात्र धर्म ग्रंथ है। कुछ लोगोंका तो यह अनुमान है कि विलायतमें वहाँकी जनताके जीवनपर जितना प्रभाव इंजील का है और उसमें उसका जितना प्रचार तथा आदर है, उत्तरी भारतमें 'मानस' उससे भी अधिक जनताके जीवनका अंग हो गया है। आबाल वृद्ध वनिता सभीको इसने अनेक परिस्थितियोंमें शांतिप्रदान की है। इसमें तो संदेह नहीं कि 'मानस' की रचना करके गोस्वामीजीने हिंदू-जाति और, भारतीय संस्कृतिको इस्लामकी धारामें बह जानेसे बचा लिया, आज और भी वे 'मानस' द्वारा उसकी रक्षा करते हुए हमारे बीच अमर हैं। यदि सच पूछा जाय तो उत्तरी भारत का हिंदू-धर्म 'मानस' की भावनाओंसे ही अनुप्राणित है। 'पार्वतीमंगल' में आत्म-तत्त्व साधारण है। 'सतसई' में वह यथेष्ट है। किंतु गीतावली में उसकी मात्रा थोड़ी है, और 'कृष्णगीतावली' में आत्माका कोई

संदेश नहीं है। यह अवश्य है कि गोस्वामीजीने राम और कृष्ण दोनों चरित्रोंका गानकरके दोनों अवतारोंकी एकताका अनुमोदन किया है।

उत्तर रचना-काल—मध्यकालीन रचनाओंमें जो स्थान 'मानस' का है, उत्तरकालीन रचानाओंमें वही स्थान 'विनयपत्रिका' का है। छंद उसके वे ही हैं जो 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' के हैं, किंतु 'विनय' के पदोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेपर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि मानो इस बातका अनुभव कर रहा हो कि उसने उक्त छंद रचना प्रणालीपर पूरा पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है—कदाचित् इस कारण भी 'विनयपत्रिका' की छंद रचना कुछ दुरूह हो गई है। 'बरवै' में प्रयुक्त छंद बरवै है जो गोस्वामीजीको रहीमसे मिला। छंदमें गोस्वामीजीने कोई सुधार नहीं किया है, यद्यपि विषयमें उन्होंने अवश्य किया है। 'कवितावली' में कवित्त, सवैया, तथा घनाक्षरी छंदोंका ही प्रयोग प्रधान है, यद्यपि यत्र-तत्र छप्पय, झूलना, आदि छंदोंका भी प्रयोग हुआ है। इसके छंद गोस्वामीजीको कदाचित् उन समसामयिक कवियोंसे मिले थे जो रीतिकालकी नींव डाल रहे थे। यद्यपि नरोत्तमदासने उनका शृंगारके अतिरिक्त एक दूसरे क्षेत्रमें सफलतापूर्वक प्रयोग गोस्वामीजीके पहले ही किया था, फिर भी वे अधिकतर शृंगारपूर्ण वर्णनों तथा नायिका-भेदके उदाहरणोंतक सीमित थे। गोस्वामीजीने उनके लिए नया क्षेत्र खोला। उन्होंने उन्हें 'कवितावली' में रामकथाका माध्यम तो बनाया ही, आगे चलकर उसीके उत्तरकाडमें उन्हें विनयका भी माध्यम बनाकर और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्हीं कारणोंसे 'कवितावली' का स्थान उसके रीतिकालकी शैलीपर एक रचना होते हुए भी बहुत उच्च है। 'दोहावली' की छंद-रचना पूर्व तथा मध्यकालीन दोहोंसे अभिन्न है। 'बाहुक' के छंद वे ही हैं जो 'कवितावली' के हैं और उनका प्रयोग भी 'कवितावली' के उत्तरकाडके अंतिम छंदोंकी भाँति किया गया है।

उत्तरकालीन रचनाओंमें सभी स्फुट रचनाएँ हैं। 'विनयपत्रिका' के दो संस्करणोंका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन दोनोंमें पदोंके जो क्रम हैं उन्हें मिलानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विनयपत्रिका' को प्रबंध काव्य कहना असंभव है। न तो सं० १६६६ की प्रतिमें पदोंका कोई क्रम है और न 'विनयपत्रिका' में, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न देवताओंसे विनयके पद दोनोंमें विभिन्न समूहोंमें एक-साथ संग्रह किए गए हैं। 'बरवै' स्पष्ट ही एक स्फुट-काव्य है। उसके अधिकतर छंद कथा क्रमके अनुसार संगृहीत हैं, और शांतरस विषयक छंद उसके उत्तरार्द्धमें रख दिए गए हैं। 'दोहावली' में आधेसे कुछ कम दोहे पूर्वरचित ग्रंथोंसे संकलित हैं, किंतु न इसमें कोई क्रम है न तारतम्य, दोहोंका चुनाव भी

एक साधारण श्रेणीकी रचिका परिचायक है। ग्रंथमें शेष कोई उन्हींके साथ बीच बीचमें मिला दिए गए हैं। किंतु इन नवीन दोहोंमें कुछ ऐसे भी हैं, जो गोस्वामीजीकी अंतिम रचनाओंमें से हैं। उत्तरकालीन ग्रंथोंमें 'बाहुक' का एक मुख्य स्थान है। प्रबंधकी दृष्टिसे 'बाहुक' उत्तरकालीन रचनाओंमें कदाचित् सबसे अधिक सरल पद है। यद्यपि इसका संपादन कदाचित् गोस्वामीजीने न किया होगा, फिर भी यह सुसंपादित है। 'कवितावली' भी स्फुट काव्य है, और उसमें भी 'बरवै' की भाँति उत्तरकांडमें शांतरसके छंदोंका संग्रह है, किंतु यह इतना बड़ा है कि ग्रंथका आधेसे अधिक विस्तार उसीने ले लिया है। 'कविता-वली' की एक दूसरी विशेषता यह है कि उसके अंतिम छंदोंमें गोस्वामीजीने अपने जीवनके अंतिम वर्षोंका अच्छा विवरण दिया है—उनके जीवनपर प्रकाश डालनेके लिए ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि कोई भी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। 'कवितावली' तथा 'बाहुक' दोनों मिलाकर गोस्वामीजीके अंतिम १५ वर्षोंके लगभगके जीवनके लिए बहुत ही पूर्ण, और कदाचित् सबसे अधिक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

शैलीकी दृष्टिसे यह कहना होगा कि गोस्वामीजीकी उत्तरकालीन रचनाएँ अन्य रचनाओंसे अधिक परिपक्व तथा प्रौढ़तर हैं। 'विनयपत्रिका' के विषयमें यह अक्षरशः सत्य है कि भाव दौड़में भाषासे कहीं आगे बढ़ जाते हैं, और एक ही भाषाका शब्द भंडार पर्याप्त नहीं होता—'विनयपत्रिका' को गोस्वामीजीकी अन्य सभी रचनाओंकी अपेक्षा कठिनतर माननेका यह प्रमुख कारण है। 'बरवै' की भाषा ठेठ अवधी होते हुए भी कितनी प्रौढ़ ललित है यह किस. रसिक से छिपा नहीं है—थोड़ेसे शब्दोंमें पूरा रसका भंडार है। 'कवितावली' की शैली बड़ी प्रशस्त है। रसोंके अनुकूल उसमें यथास्थान परिवर्तन होते हुए भी वह प्रसादगुण पूर्ण है। उसकी धारा सरल है, और उसमें माधुर्य बहुत अधिक है। और शब्दोंका गठन इतना प्रशंसनीय है कि उनमें से एक भी निकालने की बात दूर, वह कदा-चित् इधरसे उधर नहीं किया जा सकता। 'दोहावली' की शैलीके विषयमें यही कहा जा सकता है कि उसमें कोई नवीनता नहीं है। किंतु, 'बाहुक' की शैली बड़ी ही बलवती है—यथार्थकी जैसी तीव्र व्यंजना 'बाहुक' के छंदोंमें है वह उसका एक यथातथ्य चित्र खींच देती है।

गोस्वामीजीकी अंतिम रचनाओंमें बुद्धि-तत्व गौण है—प्रमुख है हृदय-तत्व और आत्म तत्व। सच्ची अनुभूतिकी जितनी तीव्र व्यंजना और हृदयका जैसा अनियंत्रित उद्गार 'विनयपत्रिका' में है उसके आधारपर इसका स्थान गीतिकाव्यकी उच्चतम कक्षामें है। 'बरवै' के उत्तरकांडमें यद्यपि दिव्य आत्माका

संदेश है, किंतु शेषमें कविके सुंदर हृदयका ही परिचय मिलता है। अवस्था-वृद्धि-के साथ अंतिम कालकी रचनाओंमें से यद्यपि सभीमें कालकी आगे आती हुई प्रतिच्छायाकी ओर आकस्मिक संकेत मिल जाता है, किन्तु उसका स्पष्ट आभास हमें 'दोहावली' और 'बाहुक' में मिलता है। जैसी करुणा और जितना दैन्य 'दोहावली' के कुछ दोहोंमें जो पहलेकी रचनाओंसे संकलित दोहोंके अतिरिक्त हैं, तथा 'बाहुक' के छंदोंमें मिलता है, उसके अधिकांशका श्रेय इसी विभीषिकाको है। इन निरी अंतिम रचनाओंमें आत्माका संदेश पाना कठिन है। 'बाहुक' के अंतिम छंदोंमें देवताओंके ऊपर जो अविश्वास तथा हनुमान, राम तथा शिवसे सहायता और रक्षा न कर सकने का स्पष्ट उत्तर माँगनेकी प्रवृत्तियाँ हैं, वे बाहुपीड़ाकी असहनीय यंत्रणाके कारण हैं। इस प्रकारका विश्वास-शैथिल्य नैराश्य-जनित है। 'कवितावली' में लंकाकांडतक अवश्य महाकविकी सहृदयता और उसकी सुकुमार भावनाओंकी प्रचुरता मिलती है, किंतु उसके उत्तरकांडमें उनका स्थान आत्म-तत्व ले लेता है और कला दब जाती है। 'कवितावली' का अंतिम अंश जिसमें महामारी आदिका वर्णन है पुनः एक महाकविकी प्रतिभाकी ओर संकेत करता है; यहाँपर वर्णन बड़ा ही सजीव है, और वह कविके सहानुभूतिपूर्ण हृदयका द्योतक है। उत्तर रचना-काल समष्टि-रूपसे आत्म-संदेश-प्रचुर है।

इसप्रकार, हम देखते हैं कि ऊपर गोस्वामीजीकी रचनाओंके लिए जो काल-क्रम हमने निर्धारित किया है उस क्रमसे उनकी प्रौढ़तापर अलग-अलग विचार करनेपर कविकी प्रतिभामें एक विकासोन्मुख प्रगति स्पष्ट रूपसे परिलक्षित होती है, जिससे हमें और भी यह विश्वास होजाता है कि ऊपर उपस्थित किया हुआ काल-क्रम शुद्ध है, और वह वास्तविकता के निकट है।

'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'रामशलाका'

काशीकी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी ग्रंथावली' में जिस ग्रंथका नाम 'रामाज्ञा प्रश्न' है, उसीके विभिन्न नाम विभिन्न प्रतियोंमें मिलते हैं—रामायण-सगुनौती[1], सगुनावली[2], सगुनमाला[3], रामाज्ञा[4], रामाज्ञा-प्रश्न[5], रामशलाका[6], और रघुवरशलाका[7]।

इन नामोंमें से पहले नामको अधिक महत्त्व देनेके दो कारण हो सकते हैं। एक तो इस समय हमें उसकी जो सबसे प्राचीन प्रति प्राप्त है, और जो कविके देहांतके केवल नौ वर्ष पीछेकी लिखी हुई है, उसमें इसका नाम 'रामायण-सगुनौती' है[8]। और दूसरे, ग्रंथके अंतिम दोहेमें उसके नामका उल्लेख इसप्रकार होता है—

> गुन बिस्वास बिचित्र मनि सगुन मनोहर हारु।
> तुलसी रघुबर भगत उर बिमल बिमल बिचारु॥ ७-७-७॥

अर्थात्, विश्वास रूपी गुण (धागे) और 'सगुन' रूपी विचित्र मणिके संयोगसे यह मनोहर हार बना है। इसको धारण करनेवाले रघुवर-भक्तके हृदयमें निर्मल विचारोंकी सृष्टि होती है। यों तो 'सगुन' शब्द ग्रंथभरमें आया है, किंतु उसका ऐसा विशेष प्रयोग केवल इसी दोहेमें मिलता है, अतः इस अंतिम दोहेका 'सगुन' अवश्य ही पूरे नामका सर्व प्रमुख अंश रहा होगा। और, 'सगुन'के साथ पूरी रामकथाका भी ग्रंथमें समावेश किया गया है, इसलिए उसका 'रामायण-सगुनौती' नाम ही सबसे अधिक समीचीन जान पड़ता है। किंतु

---

[1] लिपिकाल सं० १६८९, काशिराज पुस्तकालय, (विशेष खोज रिपोर्ट, १९००, नो० ७)

[2] लिपिकाल सं० १८८१, पं० गयादत्त शुक्ल, उरयोला, आजमगढ़, (खोज रिपोर्ट, १९०९ ११, नो० ३२३ ह)

[3] लिपिकाल अनिश्चित, साहित्यरत्न पं० विजयानंद त्रिपाठी, काशी।

[4] (क) लिपिकाल अनिश्चित, दतिया-राजपुस्तकालय, (खोज रिपोर्ट, १९०३, नो० ८७) तथा (ख) लिपिकाल अनिश्चित, दतिया-राजपुस्तकालय, (खोज रिपोर्ट, १९०६ ०८, नो० २४५ द)

[5] प्रकाशन संवत् १९७७, 'षोडस रामायण संग्रह' में संगृहीत।

[6] लिपिकाल सं० १८२२, काशिराज पुस्तकालय, (खोज रिपोर्ट, १९०३ नो० ९८)

[7] लिपिकाल अनिश्चित, पं० रामप्रताप द्विवेदी, गोपालपुरा (खोज रिपोर्ट, १९२० २२, नो० १९८ ह)

[8] विशेष खोज रिपोर्ट, १९००, नो० ७

सुविधाके लिए यहाँ हम उसके सबसे अधिक परिचित नाम 'रामाज्ञा-प्रश्न' का ही प्रयोग करेंगे।

ऊपरके नामोंमें लेखकने 'रामशलाका' और 'रघुवरशलाका' को भी रक्खा है। अबसे लगभग ४० वर्ष पूर्व 'इंडियन एँटिक्वेरी' में लिखते हुए सर जॉर्ज ग्रियर्सनने लिखा था[१]—"छक्कनलाल कहते हैं कि १८२६ ई० में उन्होंने 'रामाज्ञा' की एक प्रतिलिपि मूल प्रतिसे की थी जो कविके हाथकी लिखी हुई थी, और जिसकी तिथि कविने स्वयं सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।" और उसी पृष्ठपर फुटनोटमें उन्होंने छक्कनलालके शब्द दिए थे—"श्री सं० १६५५ जेठ सुदी १० रविवारकी लिखी पुस्तक श्री गोसाईंजीके हस्त-कमल की प्रह्लादघाट श्रीकाशीजीमें रही। उस पुस्तकपर से श्री पंडित रामगुलामजीके सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ रामायणी मिरज़ापुरवासीने अपने हाथसे सं० १८८४ में लिखा था।" उसी पत्रिकाके एक अन्य पृष्ठपर पुनः उन्होंने लिखा था[२]—"रामाज्ञा' की वह प्रति गोस्वामीजीके हाथकी, नरकुल-द्वारा लिखी हुई थी और प्रह्लादघाटपर ३० वर्ष पूर्व (अर्थात् सन् १८६३ ई० के लगभग) तक विद्यमान थी।"

इन उल्लेखोंका प्रतिवाद करते हुए प्रह्लादघाटके श्रीरणछोड़लाल व्यासने थोड़े ही दिन पीछे 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में जो अपना वक्तव्य प्रकाशित किया था उसका उल्लेख स्वर्गीय श्रीशिवनंदनसहायने 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी'-नामक ग्रंथमें इस प्रकार किया है[३]—"यह जीवनी छपनेके थोड़े ही दिन पहले हमको 'काशी नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (भाग १६, संख्या १०) में रणछोड़लाल व्यासजीका एक लेख देखनेमें आया। आप अपनेको गंगाराम ज्योतिषीका वंशधर बताते हैं और लिखते हैं कि 'गंगारामजी दो भाई थे। दूसरेका नाम दौलतराम था। उनके वशजो में पं० गिरिवर व्यास हुए।...... मैं उनका भांजा हूँ। असलमें 'रामाज्ञा' नहीं किंतु 'रामशलाका' थी, जो रामचंद्र (मेरे बहनोईके भाई) और गंगाधर (मेरी बुआके पुत्र) के हाथसे सं० १९२०-२२ के करीब लुटेरोंने श्रीनाथजीकी यात्राके समय उदयपुरके निकट लूट ली थी। उस 'रामशलाका' नक़ल की मिरज़ापुर-निवासी पं० रामगुलामजी द्विवेदीके श्रोता छगनलालजीके पास है। . . .. 'रामाज्ञा' की रचनाके संबंधमें जो बातें ग्रियर्सन साहबने लिखी हैं उन्हींका सारांश इन्होंने 'रामशलाका' के विषयमें लिखा है।"

---

१ 'इंडियन एँटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९६

२ 'इंडियन एँटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० १९७

३ 'श्री गोस्वामीतुलसीदासजी', पृ० ३५१

परंतु दोनों प्रामाणिक कथनोंके अन्य अंशोंमें नितांत साम्य होते हुए भी यह विवाद अभीतक चला आ रहा है कि सं० १६५५, ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवारकी यह प्रति 'रामाज्ञा-प्रश्न' की थी अथवा 'रामशलाका' की[1]। अब, यदि यह सिद्ध हो जाय कि वस्तुत: 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'रामशलाका' एक-ही हैं, और दोनोंमें नाम मात्रका अंतर है, तो इस विवादका यहीं अंत हो जाता है।

इस प्रश्नपर भलीभाँति विचार करनेके लिए लेखक यह अनिवार्य समझता है कि खोज-रिपोर्टोंमें दिए हुए 'रामशलाका' और 'रघुबरशलाका' के प्रारंभिक और अंतिम दोहोंके साथ नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित 'रामाज्ञा-प्रश्न' के भी प्रारंभिक और अंतिम दोहे एकत्र उद्धृत किए जायँ—

'रामशलाका' के[2] दोहे इस प्रकार हैं—

प्रारंभिक—बानी बीनायक अंबु रवि गुरु हर रमा रमेस।
सुमिरि करहु सब कामसुभ मंगल देस बिदेस ॥ १ ॥
गुरु सुर शैल मादुर ददन सभी सुरसरि सुरगाइ।
सुमिरि चलहु मंगल मुरती होइहि सुकृत सहाइ ॥ २ ॥
गीरा गौरि गुरु गनप हर मंगल मंगलमुल।
सुमीरत करत शीधी सव होइदी सव अनुकुल ॥ ३ ॥

अंतिम—सुदिन साधी पोथी नेवती पुनी प्रभाव सप्रेम।
सगुन बिचारव चारुमती सादर सत्य सुनेम ॥ १ ॥
गुनि गनी दिन गनी धातु गनी दोहा देखी बिचारि।
देसक करता वचन वर असगुन सगुन अनुहारि ॥ २ ॥
सगुन सत ससा नैन गुन अवधी अवध नौवान।
होइ सुफल जसु आयु जसु मीती प्रनाती प्रमान ॥ ३ ॥
गुर गनेश हर गौरी सीअ राम लखन हनुमान।
तुलसी दसरथ सुमीरी सव सगुन बीचार निधान ॥ ४ ॥
हनोमान सानुज भरत राम साआ उर आनी।
लखन सुमीरा तुलसी कहत सगुन बीचार बखानी ॥ ५ ॥
जो जेही काजही अनसरै सो दोहा जब होइ।
सगुन सभै सव सत्य फल कहव राम गती सोइ ॥ ६ ॥
गुनी बीसास बीचीत्र मनी सगुन मनोहर हार।
तुलसी रघुबर भगती उर बीलसन बीमल बीचार ॥ ७ ॥

---

[1] 'हिंदी-नवरत्न', स० १९८५, पृ० ७८
[2] खोज रिपोर्ट, १९०३, नो० ९८

'रघुवरशलाका के'[1] दोहे इस प्रकार हैं—

आरंभिक—बानि विनायक अंब हर रवि गुरु रमा रमेस।
सुमिरि करहु सब काज शुभ मंगल देश विदेश ॥ १ ॥
गुरु रघुसि सिंधुर मदन ससि सुरसरिता गाइ।
सुमिरि चलहु मंगल मुदित मन होइ सकुन सहाइ ॥ २ ॥
गिरा गौरि गुरु गणप हर मंगलहु मंगल मूल।
सुमिरत करतल सिद्ध सब होइ ईश अनुकूल ॥ ३ ॥
भरत भारती रिपुदमन गुरु गणेश बुधवार।
सुमिरत सुलभ सुधर्म फल विद्या विनय विचार ॥ ४ ॥

अंतिम— गुण विश्वास विचित्र मणि सगुण मनोहर सार।
तुलसी रघुवर भाग बड़ बिलसत विमल विचार ॥ ७ ॥

विषय—राम-जन्म सीता विवाह, अवध-सुख वर्णन, राम-वनगमन, मुनियोंसे मिलन, खर-दूषन वध, सीता-हरण, रावणादि-वध, अयोध्या आगमन, सब बंदरादिका विदा करना, ब्राह्मणके बालकका संवाद।

काशीकी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसीग्रंथावली' में संगृहीत 'रामाज्ञा प्रश्न' का विषय भी वही है जो ऊपर उद्धृत किया गया है, अतः आगे हम केवल उसके प्रारंभिक और अंतिम दोहे उद्धृत करेंगे।

आरंभिक—बानि विनायकु अंब रवि गुरु हर रमा रमेस।
सुमिरि करहु सब काज सुभ मंगल देस विदेस ॥ १ ॥
गुरु सरसइ सिंधुरबदन ससि सुरसरि सुरगाइ।
सुमिर चलहु मग मुदित मन होइहि सुकृत सहाइ ॥ २ ॥
गिरा गौरी गुरु गनप हर मंगल मंगलमूल।
सुमिरि करतल सिद्धि सब होइ ईस अनुकूल ॥ ३ ॥
भरत भारती रिपुदवनु गुरु गनेस बुधवार।
सुमिरत सुलभ सुधरम फल विद्या बिनय विचार ॥ ४ ॥

अंतिम— सुदिन साँझ पोथी नेवति पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन बिचारब चारुमति सदाप सत्य सनेम ॥ १ ॥
मुनि गनि दिन गनि धातु गनि दोहा देखि बिचारि।
देस करम करता बचन सगुन समय अनुहारि ॥ २ ॥
सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नयबान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु प्रीति प्रतीति प्रमान ॥ ३ ॥
गुर गनेस हर गौरि सिय राम लखनु हनुमानु।
तुलसी सादर सुमिरि सब सगुन बिचार बिधानु ॥ ४ ॥

---

[1] 'खोज रिपोर्ट', १९२०-२२, नो० २०८ ई

हनूमान सानुज भरत राम सीय उर आनि।
लखन सुमिरि तुलसी कहत सगुन बिचार बखानि ॥ ५ ॥
जो जेहि काजहि अनुसरइ सो दोहा जब होइ।
सगुन समय सब सत्य सब कहब रामगति । गोर ॥ ६ ॥
गुन बिस्वास बिचित्र मनि सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर भगत उर बिलसत बिमल बिचारु ॥ ७ ॥

अतएव, इन उद्धरणोंसे यह नितांत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वस्तुतः 'रामशलाका' भी उसी ग्रंथका एक नाम है जिसका दूसरा नाम 'रामाज्ञा-प्रश्न' है।

अब इस संबंधमें केवल तीन प्रश्न रह जाते हैं—

(१) क्या सं० १६५५, जेठ सुदी १०, रविवारकी तीथि ठीक है ?

(२) क्या यह प्रति प्रह्लादघाटपर थी ? और

(३) क्या उसके लिपिकार तुलसीदास थे ?

इन तीनों प्रश्नोंके संबंधमें ऊपर हम श्रीछक्कनलालका कथन, सर जॉर्ज ग्रियर्सनकी खोज और श्रीरणछोड़लाल व्यासकी प्रतिवाद स्वरूपमें भी की हुई वस्तुतः उक्त कथन और खोजकी पुष्टि हम देख चुके हैं। साधारणतः इन साक्ष्योंको ही पर्याप्त होना चाहिए था, किंतु नीचे हम और भी दृढ़ साक्ष्यों पर विचार करेंगे।

'षोडस रामायण-संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा-प्रश्न' की समाप्ति इस प्रकार होती है—'हस्ताक्षर श्रीगुसाईंजी सं० १६५५ रविवार ज्येष्ठ शुक्ल १०।'' इस समाप्तिसे यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि उक्त तिथिको लिखे हुए गोस्वामीजीके हस्ताक्षरयुक्त 'रामाज्ञा-प्रश्न' की कोई प्रति अवश्य थी, जिसकी प्रतिलिपिके आधारपर 'षोडस रामायण-संग्रह' के 'रामाज्ञा प्रश्न' का संपादन किया गया है। लेखकका अनुमान है कि उस मूल-प्रतिमें 'लिखित तुलसीदासेन' या इसी आशयकी कोई अन्य शब्दावली अवश्य रही होगी, जिसको यथोचित रीतिसे प्रकट करनेके लिए प्रतिलिपिकार ने "हस्ताक्षर श्रीगुसाईंजी" का आश्रय लिया है।

ज्योतिषकी गणनाके अनुसार भी यह तिथि शुद्ध निकलती है। 'कवि-का समय' शीर्षक देकर 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' में लिखते हुए इस तिथिके संबंधमें सर जॉर्ज ग्रियर्सनने लिखा है—"यह अनावश्यक है कि हम गणनाका विस्तार

१ 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३, ई० पृ० ९६

दें। वैमादि-वर्ष लेनेपर यह तिथि रविवार ४ जून, १५९८ ई० के बराबर होती है।"

इन अतिरिक्त साक्ष्योंके आधारपर यह और भी संदेहातीत हो जाता है कि सं० १६२१ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवारकी तिथि देते हुए गोस्वामीजीके हस्ताक्षर युक्त 'रामाज्ञा प्रश्न' की एक प्रति कुछ समय पूर्व विद्यमान थी।

वह प्रति प्रह्लादघाट, काशीमें थी, इस संबंधमें भी श्रीछक्कनलाल, सर जॉर्ज ग्रियर्सन और श्रीरणछोड़लाल व्यासके कथनोंको पढ़नेके उपरांत संदेह न रहना चाहिए था किंतु इस विषयमें भी एक दृढ़ साक्ष्यका उल्लेख किया जा सकता है, वह है 'रामाज्ञा प्रश्न'का निम्नलिखित दोहा—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम॥ १७॥

यह दोहा ग्रंथमें प्रथम सर्गकी समाप्तिपर आता है और स्पष्ट ही गंगाराम को संबोधित करके कहा गया है। अतएव, जब अन्य प्रामाणिक साक्ष्यों द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि गंगारामके उत्तराधिकारियोंके पास 'रामाज्ञा प्रश्न' की एक प्रति बहुत दिनोंतक थी तो हमें उसपर विश्वास होना ही चाहिए।

वह प्रति गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी थी या नहीं इस संबंधमें श्रीछक्कनलाल तथा श्रीरणछोड़लाल व्यासके कथनोंके होते हुए भी निश्चयके विषयमें हम यदि संदेहमें हों तो कदाचित् अनुचित न होगा, क्योंकि उदाहरणार्थ, आजसे दस वर्ष पूर्व 'रामचरितमानस' की अनेक प्रतियाँ गोस्वामीजीके हाथकी लिखी मानी जाती थीं, किंतु आज उनमेंसे एक भी ऐसी नहीं मानी जा रही है— यहाँ तक कि राजापुरकी अयोध्याकांडकी प्रतिको भी अब हम गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई नहीं मान रहे हैं[१]। यदि 'रामाज्ञाप्रश्न' का वह प्रति प्राप्त होती तो बहुत कुछ संभव था कि एक निश्चित धारणा उसके संबंधमें निर्मित की जा सकती। प्रस्तुत सामग्रीके आधारपर दृढ़तापूर्वक हम केवल इतना कह सकते हैं कि कमसे कम उक्त प्रतिके अंतमें दिया हुआ हस्ताक्षर और उसके साथ सं० १६२१ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार की तिथि गोस्वामीजीके ही अक्षरोंमें थे। शेषके लिए अनुमानोंका आश्रय लेना पड़ेगा। लेखकका अनुमान है कि वह प्रति गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी हुई थी। ऊपरके साक्ष्योंके अतिरिक्त उसके इस अनुमानका भी आधार 'षोडस रामायण-संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा प्रश्न' की समाप्ति है। उसका अनुमान है कि 'हस्ताक्षर श्रीगुसाईंजी'के स्थानपर मूल प्रतिमें 'लिखितं तुलसीदासेन' या ठीक इसी आशयके दूसरे शब्द रहे होंगे,

[१] देखिए इसी संग्रहमें संगृहीत 'रामचरितमानसकी सबसे प्राचीन प्रति' शीर्षक लेख।

क्योंकि केवल हस्ताक्षर करनेकी प्रथा अभी तक कदाचित् किसी भी प्राचीन हस्त-लिखित प्रतिमें नहीं देखी गई है। कुछ आश्चर्य नहीं कि उसके स्थानपर "लिखित तुलसीदासेन' शब्द ही रहे हों।

इस प्रसंगमें हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि लेखक सं० १६५५ को 'रामाज्ञा-प्रश्न' का रचना-काल, इसप्रकार, नहीं मान लेता। उसके रचना-कालके संबंधमें वह विस्तारपूर्वक पहले विचार कर चुका है।[1] फलतः, एक अन्य प्रश्न यह किया जा सकता है—जिसका प्रस्तुत विषयसे सीधा संबंध नहीं है—कि तब गोस्वामीजीको सं० १६५५ में पुनः उसे लिखनेकी क्या आवश्यकता पड़ी होगी। इस संबंधमें भी हमारे सामने अनुमानके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। लेखकको इसी संबंधमें खोज करते हुए काशी में श्रीरणछोड़लाल व्याससे मिलनेका संयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने उससे कहा कि गोस्वामीजी जब पहले पहल काशी आए, तब उन्हें गंगारामके यहाँ ही आश्रय मिला और यहींसे उनकी प्रसिद्धिका प्रारंभ हुआ। गंगारामको कारागृह दंडसे बचानेके लिए यहीं उन्होंने 'रामाज्ञा-प्रश्न'की रचना की। चोरोंवाली प्रसिद्ध घटना भी यहीं हुई। पीछे गोस्वामीजीने अन्य बहुतसे आश्चर्यजनक कार्य किए—जैसे मृत व्यक्तियोंको जिलाना—जिसका समाचार पाकर दिल्ली-पतिने उन्हें दिल्ली बुलवाया और कोई करामात दिखाने को उनसे कहा, किंतु परिणाम-स्वरूप दिल्लीका विध्वंस होते देखकर वह गोस्वामीजीके पैरोंपर पड़ा और उन्हें सम्मानके साथ विदा किया। वहाँसे लौटकर गोस्वामीजीने प्रह्लादघाटपर कुछ दिनों तक रहनेके पश्चात् अन्यत्र अपना स्थान बनाया। यह अन्य स्थान असीघाट (?) था।

व्यासजीके पूरे कथनसे सहमत होनेके लिए लेखक नहीं कह सकता, किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गोस्वामीजी प्रह्लादघाटपर कई वर्ष लगातार रहे। अन्य कारणोंसे भी जिनका उल्लेख प्रस्तुत विषयसे बाहर होगा लेखकका अनुमान है कि प्रह्लादघाट गोस्वामीजीने कदाचित् सं० १६५५में छोड़ा। ऐसी दशामें यह असंभव नहीं कि अपनी स्मृति और प्रह्लादघाट छोड़नेकी स्मृति, बनाए रखनेके लिए वे अपने हाथसे लिखी हुई 'रामाज्ञाप्रश्न' की प्रति इस-प्रकार छोड़ते गए हों। बहुत संभव है कि यह प्रति पहलेकी लिखकर रक्खी रही हो, और उसकी पुष्पिका-मात्र उक्त तिथिको लिखी गई हो, अथवा उक्त तिथिको ही उन्होंने अपनी मूल-प्रतिसे एक प्रतिलिपि करके दी हो। लेखक इन दोनोंमेंसे प्रथमको अधिक संभव समझता है। 'रामाज्ञा-प्रश्न' की ही प्रति

---

[1] देखिए इसी संग्रहमें, पृ० ४८।

'रामाज्ञा-प्रश्न' की ही प्रति गोस्वामीजीने क्यों दी होगी इसका स्वतः समाधान यह है कि उसकी रचनाके नैमित्तिक कारण गंगाराम थे।

अनुमानों और कल्पनाओंके आधारपर तथ्योंको खींच-खींचकर सुलझानेमें लेखकको अधिक विश्वास नहीं है, इसलिए वह यह कहनेमें संकोच करता है कि तीसरे प्रश्नके संबंधमें उसके विचार किसीप्रकार मान्य हो सकेंगे। किंतु जबतक इससे अधिक दृढ़ सामग्री प्राप्त नहीं होती, तबतक इन्हीं अथवा इसीप्रकारके अन्य अनुमानोंका आश्रय लेकर किसी परिणामपर पहुँचना होगा।

'रामचरितमानस' की सबसे प्राचीन प्रति

'रामचरितमानस' की रचनाके सौ वर्ष भीतरकी उसकी प्रतियाँ अभीतक तीन ही देखनेमें आई हैं—

१–'रामचरितमानस का बालकांड'[1] —सं० १६६१ वैशाख शु० ६, बुधवार को समाप्त।

२–संपूर्ण 'रामचरितमानस'[2]—सं० १७०४ के माघ मासमें समाप्त।

३–संपूर्ण 'रामचरितमानस'[3]—सं० १७२१ में किसी तिथिको समाप्त।

इन तीनके अतिरिक्त यदि हम राजापुरकी 'अयोध्याकांड मानस' की प्रतिको मान लें कि वह गोस्वामी तुलसीदासजीके हाथकी लिखी हुई है—यद्यपि यह अत्यन्त संदिग्ध है—फिरभी संख्या चारसे आगे नहीं बढ़ती। मलीहाबादकी जो प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी कही जाती है, उसे उन महाशयके अतिरिक्त जिनके अधिकार में वह है कदाचित् किसी अन्य व्यक्तिने अभीतक नहीं देखा है। फलतः उसके संबंधमें कोई विचार नहीं किया जा सकता।

राजापुरवाली उपर्युक्त प्रतिके संबंधमें कि वह गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई है या नहीं इधर कुछ दिनोंसे विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। प्रतिके अंतमें न तो लिपिकारका नाम है और न प्रतिकी समाप्तिकी तिथि दी हुई है। फलतः उसके लिपिकार और तिथिके संबंधमें अनुमानोंका ही आधार ग्रहण करना पड़ा है। सं० १६३१ में कवि द्वारा 'रामचरितमानस' की जिस प्रतिका लिखा जाना प्रारंभ हुआ होगा उसका यह कोई अंश नहीं हो सकती क्योंकि प्रथम प्रति होनेके कारण उसमें स्वतंत्रतापूर्वक संशोधन किए गए रहे होंगे और इस प्रकारका संशोधन-बाहुल्य राजापुरवाली उपर्युक्त प्रतिमें नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयाँ भी छूट गई हैं, जिनके न रहनेसे आगे और पीछेवाली चौपाइयोंकी संगति ही नहीं लगती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह किसी प्रतिकी प्रतिलिपि मात्र है। प्रतिलिपि भी गोस्वामीजीके हाथकी की हुई नहीं है, इसमें संदेह बहुत

---

[1] 'खोज रिपोर्ट', १९०१, नो० २२

[2] वही, १९००, नो० १

[3] 'रामचरितमानस' मूल (रामदास गौड़का संस्करण) भूमिका, पृ०२

कम है, कारण यह है कि उसकी लिखावट सं० १६६६ लिखे गए उस पंचनामेकी लिखावटसे बहुत भिन्न जान पड़ती है जिसके शीर्षकी कतिपय पंक्तियाँ निस्संदेह गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई हैं। यह भिन्नता दोनोंके मिलान करने पर स्पष्ट हो जाती है। 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकाण्डकी सं० १६४१ में लिखी हुई एक प्रति काशीके सरस्वती भवनमें सुरक्षित है। वह किसी तुलसीदासकी लिखी हुई है जैसा उसकी पुष्पिकासे ज्ञात होता है। कहा जाता है कि उसके लेखक तुलसीदास हमारे गोस्वामी तुलसीदास ही थे। उसके लेखक गोस्वामी तुलसीदास ही थे या अन्य कोई तुलसीदास यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है। थोड़ी देर के लिए यदि हम उसे गोस्वामी तुलसीदासकी ही लिखी लें तो भी उसकी लिखावट इस राजापुरकी प्रतिकी लिखावटसे बहुत भिन्न है यह दोनोंके मिलान करनेपर आपसे आप जान पड़ता है।[1] फलतः यह लगभग सिद्ध है कि राजापुरकी अयोध्याकाण्डवाली प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई नहीं है। वह गोस्वामीजीके हाथकी शुद्धकी हुई भी नहीं है, यह भी साफ़ जान पड़ता है क्योंकि अन्यथा उसमें इतनी अधिक अशुद्धियाँ न मिलनी चाहिए थीं।[2] प्रति प्राचीन अवश्य है, किंतु वह मानस जन्मके सौ वर्षके भीतरकी है या नहीं यह जाननेके लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

अतः यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त प्रथम प्रति ही रामचरितमानस की ऐसी सबसे अधिक प्राचीन प्रति है जो हमें उपलब्ध है। हमारे लिए यह और भी हर्षकी बात है कि वह गोस्वामीजीके जीवन कालकी है। उसके लिखे जानेके लगभग २० वर्षबाद गोस्वामीजीका गोलोकवास हुआ। वह और भी महत्वपूर्ण इसलिए है कि उसके लिपि कालसे कमसे कम ४३ वर्ष पीछेतक का कोई अन्य प्रति हमें उपलब्ध नहीं है। किंतु यह अत्यंत खेदका विषय है कि हमने उस प्रतिका अभीतक जैसा उचित था वैसा उपयोग नहीं किया है।

अयोध्यामें सरयूके तटपर वासुदेवघाट नामका एक घाट है, उससे थोड़ी ही दूरपर वासुदेव भगवानका प्रसिद्ध मंदिर है। इस मंदिरसे सरयूकी ओर जाने पर दो ही तीन मंदिरोंके बाद 'श्रावण-कुंज' नामका एक अच्छा-सा मंदिर पड़ता है। यह मधुर अलीजीके स्थानके नामसे अयोध्यामें प्रसिद्ध है। इससमय

[1] राजापुरकी प्रतिके पन्नों, पंचनामे और 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकाण्ड की प्रतिके पन्नों के छायाचित्र पाठकोंको श्रीरामदास गौड़ लिखित 'रामचरितमानस की भूमिका' या बा० श्यामसुंदरदास-लिखित 'गोस्वामी तुलसीदास' में मिल सकते हैं।

[2] इस विषयपर एक अच्छा लेख श्रीइन्द्रदेवनारायणजीका है जो 'सुधा', वर्ष ६, खण्ड २, सं० ६, पृ० ५६० पर प्रकाशित हुआ है।

उस स्थानपर महंत श्रीजनकिशोरीशरणजी महाराज हैं। इनके अतिरिक्त कुंजके दो और अधिकारी हैं; एक हैं भंडारकार श्रीजानकीवल्लभशरण, और दूसरे हैं पुजारीजी। तीनों सज्जन उदार प्रकृतिके साधु हैं। इन्हींके अधिकार में 'मानस' के बालकांडवाली उपर्युक्त प्रति रहती है। एक ग्रन्थ भी विशालकाय 'आदिरामायण' नामी संस्कृत ग्रंथकी प्रति इन महानुभावोंके अधिकारमें है। यह 'रामायण' मन्न-भुशुंडि संवादके रूपमें है, और आकारमें 'वाल्मीकि रामायण' से कदाचित् ही छोटी होगी।

'रामचरितमानस' की जो प्रति इस कुंजमें है उसके दो अंश हैं—एक प्राचीन और दूसरा अपेक्षाकृत अत्यंत नवीन। प्राचीन अंश केवल बालकांड है, यद्यपि उसमें भी पाँच पत्रे दूसरी श्रेणीके हैं। प्राचीन अंश एक हाथका लिखा हुआ है, और दूसरा अंश कुल एक दूसरे हाथका। ऐसा जान पड़ता है कि बालकांडकी प्रतिको प्राप्त करनेके अनंतर यह अधिक समीचीन समझा गया कि उसके जो पत्रे खंडित हैं उन्हें किसी दूसरी प्रतिसे प्रतिलिपि करके उक्तप्रतिमें रख दिया जावे जिससे कमसे कम बालकांड पूरा हो जावे, और शेष कांड भी उसीके साथ किसी अन्य प्रतिसे प्रतिलिपि करके साथ रख दिए जावें जिससे पाठके लिए 'रामचरितमानस' की पुस्तक पूरी रहा करे। प्राचीन और नवीन दोनों अंशोंके पत्रे एक ही आकारके हैं—लगभग ६½ × ३½ इंच—किंतु दोनोंके कागज़ोंमें बहुत अंतर है। दूसरे अंशका कागज़ पहलेकी अपेक्षा बहुत नवीन जान पड़ता है। दूसरे अंशका कागज़ हलकी पीली आभा लिए श्वेत है, किंतु पहले अंशका कागज़ भूरा हो चला है। बालकांडकी समाप्तिपर लिखा हुआ है—

॥ शुभमस्तु ॥ संवत् १६६१ वैशाख सुदि ६ बुधे ॥

इससे प्राचीन अंशका लिपिकाल स्पष्ट है—क्योंकि यह पत्रा भी प्राचीन अंशका ही है, किंतु दूसरे अंशमें किसी कांडकी समाप्तिपर पुष्पिका नहीं दी हुई है, जिससे किसी भी निश्चित तिथिका अनुमान करना कठिन है। सन् १९०१ ईस्वीकी 'खोज रिपोर्ट' में इस प्रतिकी जो नोटिस निकली थी[१] उसका आशय यह था कि इस प्रतिके ऊपरके पाँच पृष्ठ पीछेसे लिखकर लगाए गए हैं, शेष पुराने हैं; प्रथम पत्रेके ऊपर हिन्दीमें कुछ लिखा हुआ है, जो स्पष्ट नहीं, पढ़ा जाता, पर उसमें सं० १८८६ कार्तिक कृष्ण ४ रविवार लिखा हुआ जान पड़ता है, जिससे ज्ञात होता है कि ये पृष्ठ सं० १८८६ में बदले गए थे। किंतु लेखकके देखनेमें कोई ऐसी बात नहीं आई जिससे वह इस परिणामपर पहुँचता।

१ 'खोज रिपोर्ट', १९०१, नं० २२

उसने यह अवश्य देखा कि प्रतिका पहला पत्रा बहुत मोटा है, और वह दो पत्रोंको एकसाथ चिपकाकर बनाया गया है। फिर भी सूर्यको ओर उठाकर देखनेमें उसके आर-पार दिखाई पड़ता है। लेखकने इस प्रकार जब उसे उठाकर देखा तो उसे पत्रेके निम्न भागमें यह पंक्ति मिली, 'सुनायके लोभाय बसमे किया', जिसका आशय कदाचित् यह है कि किसी भक्तने यह प्रति या कोई अन्य वस्तु अपने इष्टदेवको सुनाकर उन्हें मुग्ध किया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लेख उसे पहले पृष्ठपर नहीं मिला।

उपर्युक्त बालकाडकी प्रतिमें इससमय केवल पाँच पत्रे खडित हैं, जिनमें से चार प्रारभके हैं और पाँचवाँ बीचका है। 'मानस' के एक बडे प्रेमी काशी-के पडित विजयानन्द त्रिपाठी हैं। आपने भी वह प्रति देखी है। कुछ दिन हुए लेखक आपसे मिला था। आपका अनुमान है कि बालकाडके प्रारभमें गुरुकी वंदना तुलसीदासजीने जिस सोरठेमें की है[1] उसमें 'हरि' के स्थान पर 'हर' पाठ होना चाहिए। प्रचलित पाठ है—

बदौं गुरुपद कज कृपासिंधु नर रूप हरि।

आप का अनुमान है कि वस्तुत. पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

बदौं गुरुपद कज कृपासिंधु नर रूप हर।

आपका यह कथन निराधार नहीं है। लेखकके संग्रहमें भी 'मानस' की एक अत्यत सावधानतापूर्वक लिखी हुई पुरानी प्रतिहै, जिसमें 'हरि' के स्थानपर 'हर' पाठ मिलता है। पहलेका पाठ जो भी रहा हो, इस समय हमें उससे विशेष संबंध नहीं है। किंतु त्रिपाठीजीका यह भी अनुमान है कि सभवत 'हर' पाठको निकाल देनेके उद्देश्यसे वैरागियोंने प्रारंभके पत्रे प्रतिसे गायब कर दिए और नए पत्रे लगा दिए। लेखक बडे दुखके साथ आपके इस अनुमानसे असहमत होनेके लिए बाध्य है, क्योंकि यह बात उसकी समझमें नहीं आती कि 'हर' पाठ निकाल देनेके लिए प्रारंभके चार पत्रोंको गायब कर देनेकी क्या आव-श्यकता थी काम तो केवल पहले पत्रेके गायब कर देनेसे ही चल सकता था।

प्रारभके इन चार पत्रोंके अतिरिक्त बीचका भी एक पत्रा, जैसा ऊपर कहा गया है, उपर्युक्त प्रतिमें नहीं था, और पीछेसे लिखकर रक्खा गया है। जो पत्रा इसप्रकार खडित है, उसमें साधारणत आना चाहिये था राम जन्म-सूचक सुप्रसिद्ध छंद—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्याहितकारी।[2]

[1] 'रामचरितमानस' (रामदास गौडका सस्करण), बाल०, वदना प्रकरण।
[2] वही, बाल०, दो० १९२

इस छंदके तीसरे चरणका प्रचलित पाठ है¹—

लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजचारी।

इस समय जो नवीन पन्ना खंडित पन्नेके स्थानपर लगा हुआ है, उसमें पहलेका पाठ था—

लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजधारी ।

—किन्तु अब 'धारी' के 'ध' की गर्दन चाकू, या किसी नोकदार वस्तुसे रगड़कर निकाल दी गई है, और यह 'चारी' की भाँति पढ़ा जाता है। कागज़के छिलनेका चिन्ह बहुत स्पष्ट है। आगेवाले पन्नेपर, जो पुराना है, छंदका उत्तरार्द्ध पड़ता है। उसमें यह पंक्ति आती है:—

सो मम हितलागी जनअनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता।

—और 'श्रीकंता' की दाहिनी ओर हाशिएपर पीछेके किसी हाथ-द्वारा लिखा हुआ है—

"श्रीकंता से चारि भुजा"

उपर्युक्त त्रिपाठीजीका अनुमान है कि असली पन्नेपर 'भुजचारी' पाठ रहा होगा, जिसको बदलनेके लिए और 'भुज धारी पाठ रखनेके लिए असली पन्नेको वैरागियोंने निकाल फेंका, क्योंकि वे द्विभुज-रामके उपासक होते हैं। पहलेका पाठ 'भुज चारी रहा होगा इसकी सभावना बहुत अधिक है, 'श्रीकंता' से इसका संकेत मिलता ही है 'अध्यात्मरामायण' में भी, जिससे राम-जन्मका प्रसग 'मानस' में लिया गया है, चार भुजाओंके ही स्वरूपमें रामावतार होता है।² किंतु वस्तुत इस प्रतिमें क्या पाठ था, और पन्ना किसी उद्देश्यसे ग़ायब किया गया या स्वत खंडित होगया यह सब इतने ही साक्ष्यके आधारपर कहना कठिन है।

बालकांडकी इस प्राचीन प्रतिका लिपिकार कौन रहा होगा, यह एक आवश्यक प्रश्न है। प्रतिके अंतमें लिपि-काल देते हुए भी उसने अपना नाम नहीं दिया है। अंतिम पन्नेकी एक ओर लिपि काल दिया हुआ है, और दूसरी ओर उसकी पीठपर एक बहुत मोटा कागज़ चिपकाया हुआ है। श्रावण-कुंजके पड़ोसमें ही तुलसीदासके एक बड़े प्रेमी श्रीसीताप्रसादजी रहा करते थे। इस प्रतिको जीर्ण अवस्थामें देखकर उन्होंने प्रत्येक पन्नेके हाशिएपर पतली कागज़ चिपका दिया, जिससे पन्ने और घिसकर शीघ्र नष्ट न हो जावें। उन्होंने अंतिम पन्नेकी

¹ 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण)
² 'अध्यात्मरामायण', सर्ग ३, श्लोक १६ १८

पीठपर यह मोटा काग़ज़ भी चिपका दिया। उस मोटे काग़ज़पर उन्होंने इस आशयका उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति उन भगवानदासकी लिखी हुई है जिनकी लिखी हुई 'विनयपत्रिका' की एक प्रति काशी-राजके रामनगरमें एक चौधरी साहब के पास है, और यह कि उन भगवानदासने इस अंतिम पन्नेकी पीठपर प्रस्तुत काग़ज़के नीचे अपना नाम भी दिया है, किन्तु काग़ज़ अत्यंत प्राचीन होनेके कारण फटा जारहा था, इसलिए यह मोटा काग़ज़ उन्होंने चिपका दिया। लेखकने पन्नेको सूर्यकी ओर उठाकर उसके आर-पार देखनेकी बड़ी चेष्टा की, किन्तु वह काग़ज़की मोटाईके कारण बेकार हुई। रामनगरवाली 'विनयपत्रिका' की उपर्युक्त प्रति भी उसकी देखी हुई है, दोनों प्रतियोंकी लिखावटें इतनी अधिक मिलती हैं कि दोनों एक ही व्यक्तिकी लिखी हुई जान पड़ती हैं। रामनगरवाली प्रतिकी समाप्ति में लिखा हुआ है—

"लीषीत भगवानर्म्राह्मणेन ॥"

—जिससे यह स्पष्ट है कि वह भगवान नामके किसी ब्राह्मणकी लिखी हुई है। कुछ आश्चर्य नहीं कि बालकाडकी प्रस्तुत प्रति भी उन्हीं भगवान ब्राह्मणकी लिखी हुई हो। उपर्युक्त त्रिपाठीजीका अनुमान है कि यह 'भगवान' वही है जिसके पुत्र कृष्ण' नामके व्यक्ति ने स० १६६६ में लिखे गए पंचनामेपर साखी भरी है। पचनामेके शीर्षकी कुछ पंक्तियाँ तुलसीदासके हाथकी लिखी हुई निर्विवाद मानी जाती है। 'कृष्ण' की साखी इस पचनामेमें दाहिनी ओर नीचेसे चौथी और पाँचवीं पंक्तियोंमें इस प्रकार है—[1]

"साक्षी क्रोन्दा दूब भगवन सुत।"

'क्रोन्श दूब' तो अवश्य ही 'कृष्ण दूबे' के स्थानपर अशुद्ध लिखा गया है। जान पड़ता है कि यह कृष्ण दूबे लगभग निरक्षर ब्राह्मण थे। संभव है उन्होंने 'भगवान' के 'वा' के आकारकी मात्रा पर्याप्त मात्रा बोध न होनेके कारण ही छोड़ दी हो, और यह असंभव नहीं है कि यही 'भगवन' जो कृष्ण दूबेके पिता थे उपर्युक्त रामनगरवाली प्रतिके 'भगवान' ब्राह्मण' भी हों किंतु यह भी संभव है कि 'भगवान ब्राह्मण' कृष्ण दूबेके पिता 'भगवन से भिन्न हों, क्योंकि 'भगवान' एक बहुत प्रचलित नाम है, और कदाचित् उस समय भी वह इसीप्रकार प्रचलित था जैसा आज है, क्योंकि उपर्युक्त पचनामेमें हा हमें एक अन्य साखी आरभसे सातवें 'भगवान' मिलते हैं जो 'केशवदाससुत हैं।[2] यदि त्रिपाठीजीका

[1] देखिए रामदास गौड़-कृत 'रामचरितमानसकी भूमिका' खंड ५, पृ० ६१ के सामने।

[2] वही।

अनुमान सत्य हो तो ये प्रतियाँ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कदाचित् इसलिए सिद्ध होंगी कि ये तुलसीदासके किसी पड़ोसीकी ही लिखी हुई हैं। किंतु, यह स्पष्ट है कि किसी निश्चयपर पहुँचनेके लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

तीनसौसे अधिक वर्षकी पुरानी प्रति कितने हाथोंमें गई होगी यह कौन कह सकता है, किंतु कई महानुभावोंने संशोधनोंके रूपमें उसपर अपनी छाप भी छोड़ दी है। यदि अधिक नहीं तो कमसे कम आधे दर्जन हाथों-द्वारा प्रतिका संस्कार अवश्य हुआ है। पूर्व-मुद्रण-कालमें जब ग्रंथोंकी पांडुलिपियाँ ही तैयार की जाती थीं, प्रतिलिपि करनेमें बहुत-सी अशुद्धियाँ हो जाया करती थीं, इसलिए यह एक नियम-सा हो गया था कि अधिकतर उस व्यक्तिसे भिन्न जो प्रतिलिपि करता था एक व्यक्ति मूल प्रतिसे इस प्रतिकी जाँच करके जहाँ-जहाँ अशुद्धि मिलती थी हरताल लगाकर संशोधन कर देता था, तब वह उस व्यक्तिको दी जाती थी, जो उसका 'लिपिकर्म' कराता था। अत यदि किसी प्रतिमें हमें स्थान-स्थान पर हरताल लगा हुआ दिखाई पड़ता है, तो हम यह समझ लेते हैं कि प्रति शोधी हुई है और यदि हमें ऐसा नहीं मिलता तो साधारणतः हम यह समझते हैं कि प्रति बिना शोधे हुए छोड़ दी गई थी। बिना हरताल लगाए भी, ग़लतियोंको केवल काटकर संशोधन किया जा सकता था, किंतु प्रतियोंका पाठ साफ़-सुथरा रखने के उद्देश्यसे हरताल लगाकर ही अधिकतर संशोधन किया जाता था। उपर्युक्त बालकांडकी प्रतिमें हमें दोनों संशोधन विधियाँ मिलती हैं। कुछ स्थलोंपर तो हरताल लगाकर संशोधन किया गया है, और कुछ स्थलोंपर केवल स्याहीसे काटकर। जिससे यह जान पड़ता है कि हरताल लगाकर जो संशोधन किया गया है, वही मूल-प्रतिके अनुसार होगा, दूसरे प्रकारका संशोधन नहीं। दूसरे प्रकारका संशोधन मन-माना भी हो सकता है, और उसे उसका कर्ता प्रत्येक समय कर सकता था। ऐसे दूसरे श्रेणीके संशोधन भी प्रतिभरमें मिलते हैं। ये पिछले प्रकारके संशोधन संभवत पहले प्रकारके संशोधनोंके पीछे किए गए होंगे, क्योंकि अन्यथा हरताल लगाकर उनका फूहड़पन दूरकर दिया गया होता। शुद्ध-पाठके लिए हरतालवाले संशोधनोंको मानना चाहिए, लेखकने इसी धारणासे पहले प्रति उठाई, और वह उन पाठोंको लेता गया जो हरताल लगाकर बनाए गए थे, किंतु कुछ दूर आगे बढ़नेपर उसे ज्ञात हुआ कि इस प्रकारका संशोधन केवल भूलोंको ठीक करनेतक ही सीमित नहीं रक्खा गया है, बल्कि उसका उपयोग कहीं-कहीं कम उपयुक्त जान पड़नेवाले शब्दोंको निकालकर उनके स्थानपर उनके संशोधकको अधिक उपयुक्त जान पड़नेवाले शब्दोंको स्थान देनेके लिए भी किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है

कि हरताल लगाकर किया हुआ संशोधन भी बहुत कुछ मन माना है और उसका उद्देश्य, जैसा वस्तुतः उसे होना चाहिए था, इतना ही नहीं है कि मूल-प्रतिका पाठ प्रतिलिपिमें भी यथावत रूपमें रक्खा जावे। ऐसे कुछ संशोधनोंका उल्लेख नीचे किया जाता है—

पूर्वका पाठ—जीव चराचर सब के राखे। सो माया प्रभुसों भय भाखे॥ २०० ॥
संशोधित पाठ—जीव चराचर बस के राखे। सो माया प्रभुसों भय भाखे॥ २०० ॥

ऊपरकी चौपाईमें संभव है प्रतिलिपिमें 'बस' के स्थान पर 'सब' पाठ हो गया हो, किंतु नीचेके दोहेमें इस प्रकारकी भूल हुई नहीं जान पड़ती—

पूर्वका पाठ —प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान।
सुतसनेहबस माता बालचरित कर गान॥ २०० ॥
संशोधित पाठ—प्रेममगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुतसनेहबस मात तव बालचरित कर गान॥ २०० ॥

—प्रतिलिपि करनेमें 'मात तव' के स्थानपर 'माता' कभी नहीं हो सकता था, यह स्वतः स्पष्ट है। इसीप्रकार नीचेकी चौपाईमें भी परिवर्तन किया गया है—

पूर्वका पाठ—बिधुबदनीं मृगबालक लोचनि। निज स्वरूप रतिमानुबिमोचनि॥२९७॥
संशोधित पाठ—बिधुबदनीं मृगसावकलोचनि। निज स्वरूप रतिमानुबिमोचनि॥२९७॥

—प्रतिलिपि करनेमें 'सावक' के स्थानके 'बालक' पाठ कभी नहीं हो सकता था। 'बालक' शब्दको कम उपयुक्त समझकर ही 'साधक' पाठ बनाया हुआ जान पड़ता है। यह संतोषकी बात है कि इस ढंगके संशोधनोंकी संख्या अधिक नहीं है, और अधिकतर स्थलोंपर जहाँ इस प्रकारके संशोधन हैं, पूर्वका पाठ भी पढ़ा जा सकता है।

एक दूसरे ढंगका संशोधन हुआ है, अनुस्वार सूचक बिंदुके नीचे चंद्राकार रेखा बनाकर उसे चंद्रबिंदुमें परिवर्तित करनेमें। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतिलिपिकारने स्वयं प्रतिभरमें कहीं भी चंद्रबिंदुका प्रयोग नहीं किया था, सानुनासिक और अनुस्वरित दोनो प्रकारके वर्णोंके उच्चारणके लिए उसने केवल बिंदुसे कार्य लिया था। किंतु किन्हीं महाशयने कहीं-कहीं पर बिंदुके नीचे चंद्राकार रेखा बना दी है। यह रेखा पीछेकी बनाई हुई है, यह स्पष्ट जान पड़ता है, क्योंकि वह बिंदुकी अपेक्षा एक हलकी स्याहीसे बनाई हुई है। इसप्रकारका संशोधन भी अधिक नहीं हुआ है, और न इससे कोई क्षति हुई है, क्योंकि उच्चारणमें कोई अंतर नहीं पड़ा है। उदाहरणार्थ—

पूर्वका पाठ —फिरत सनेहमगन सुख अपनें। नामप्रसाद सोच नहिं सपनें॥ २५ ॥
संशोधित पाठ—फिरत सनेहँमगन सुख अपनें। नामप्रसाद सोच नहिं सपनें॥ २५ ॥

पूर्वका पाठ—भाँप कुर्भाय कनय आम्लसई। नाम अपन मंगल दिसि दसई॥ ३८॥
संशोधित पाठ—भाँप कुभाँय अनय आलसहूँ। नाम जपन मंगल दिसि दसहूँ॥ २८॥

इन दो प्रकारके संशोधनोंके अतिरिक्त, तीन विशेष स्थलोंके संशोधन ध्यान देने योग्य हैं। इन तीनो स्थलोंपर प्रतिलिपि करते समय पूरी एक-एक पंक्ति ही छूट गई थी। एक संशोधन प्रतिके ४० वें पत्रेके अपरार्द्धमें है। पहले नीचे लिखा दोहा आता है—

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परीछा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन दूरि करेहु संदेहु॥ ७७॥

उसके बाद तुरंत ही नीचे लिखी चौपाई आजाती है—

रिषिन्ह गौरि देखी तह कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी॥

और नीचे लिखी चौपाई जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाईके बीचमें आना चाहिए था, प्रतिलिपि करनेमें छूट जाती है—

तब रूषि तुरत गौरि पहं गयऊ। देखि दसा मुनि बिस्मै भयऊ॥

—संशोधन करनेवाले व्यक्तिने यह चौपाई ऊपरके हाशिएमें लिख दी है, और जिस स्थानपर इसको आना चाहिए था, वहाँपर एक चिन्ह बना दिया है। कहा जाता है, यह संशोधन तुलसीदासजीका किया हुआ है।

ठीक इसीप्रकारका एक दूसरा संशोधन प्रतिके १४६ वें पत्रेके अपरार्द्धमें आता है। पहले नीचे लिखा दोहा आता है—

तेहि रथ रुचिर बसिष्ट कहु हरषि चढाइ नरेसु।
आपु चढेउ स्यंदन सुमिरि हर गुरु गौरि गनेसु॥ ३०१॥

और उसके बाद ही यह चौपाई आ जाती है—

करि कुलरीति बेद बिधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ॥

नीचे लिखी चौपाई, जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाईके बीचमें आना चाहिए जाता है कि था, प्रतिलिपि करनेमें छूट जाती है—

साहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुर गुरसंग पुरंदर जैसे॥

संशोधनमें यह चौपाई ऊपरी हाशिएपर लिख दी गई है, और जिस स्थानपर इसे होना चाहिए था वहाँपर छूटनेका एक चिन्ह बना दिया गया है। कहा जाता है कि यह संशोधन भी गोस्वामीजीके हाथका किया हुआ है।

उपर्युक्त श्रीसीताप्रसादजीने प्रतिके अंतिम पत्रेकी पीठपर मोटा कागज़ चिपकाकर ऊपर जो कहा गया है उसके अतिरिक्त इस आशयका भी उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति गोस्वामीजी-द्वारा संशोधित है, क्योंकि इसके संशोधनोंकी

लिखावट राजापुरकी प्रतिकी लिखावटसे मिलती-जुलती है। किंतु, लेखकका अनुमान है कि उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पहले तो यही बहुत संदेह-पूर्ण है कि राजापुर वाली प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी है, दूसरे यदि उसे गोस्वामीजीकी लिखी मान भी लिया जावे तब भी उसकी लिखावट ऊपरके दोनों संशोधनोंकी लिखावटसे भिन्न है। उदाहरणार्थ—

ऊ—राजापुरकी प्रति का ऊ दीर्घ ई की तरह (उ) उ और ॅ के संयोगसे बना है, किंतु ऊपरके प्रथम संशोधनमें आए हुए 'गयऊ' और 'भयऊ' के ऊ साधारण छापेके ऊ की भाँति उ और एक दुमके संयोगसे बने हैं।

ज—राजापुरकी प्रति का ज चार अंशों का बना हुआ है, (ບ - - ा) किंतु ऊपरके दूसरे संशोधनमें आए हुए ज में साधारण छापेवाले ज की भाँति केवल तीन ही अंश मिलते हैं (ບ - ा)। राजापुरवाले ज का दूसरा अंश उसमें नहीं है।

भ—राजापुरके भ में अंतकी जो खड़ी पाई है उसके ऊपर एक आड़ी रेखा भी है (ा), किंतु ऊपर के दूसरे संशोधनमें आनेवाले 'भयऊ' के भ में वह आड़ी रेखा नहीं है, और अंतिम पाई मुंडी छोड़ दीगई है (।)।

र—राजापुरकी प्रतिका र ा और ् की मिलावटसे बना हुआ है, किंतु दूसरे संशोधनमें आनेवाले 'सुर गुर' के र साधारण छापेवाले र की भाँति ा और ् के मेलसे बने हैं।

ह—राजापुरका ह छपे हुए साधारण ह की भाँति ', ़ और ॰ के संयोग से बना हुआ है किंतु ऊपरके दूसरे संशोधनमें आनेवाले 'सहित' और 'सोह' के ह में बीचका ़ नहीं है।

ु—उकार-सूचक चिन्हमें भी विशेष उल्लेख योग्य अंतर है। राजापुरकी प्रति में यह चिन्ह ु की भाँति लिखा हुआ मिलता है, और इन संशोधनोंमें आए हुए सुरगुर में वही ु रुपयेकी विकारीकी भाँति लिखा हुआ मिलता है।

ये थोड़े-से भेद उदाहरणके लिए पर्याप्त होंगे। यदि ध्यानसे देखा जाय तो इसीप्रकारका अंतर अधिकतर अक्षरोंकी लिखावटमें मिलेगा।

इन संशोधनोंकी लिखावट ऊपर कहे हुए पंचनामेकी लिखावटसे भी मेल नहीं खाती। उदाहरणके लिए दोनोंमें आए हुए कुछ अक्षरोंकी लिखावटोंकी तुलना नीचे की जाती है—

क—पंचनामेके क की दुम छोटी है, किंतु संशोधनोंमें आए हुए क की दुम लम्बी है।

ज—ऊपर राजापुरके ज के संबंधमें जो कहा गया है वही पंचनामेके ज के संबंधमें भी समझना चाहिए।

त—पंचनामेका त परिधिके एक टुकड़े और एक खड़ी पाई (‹I) के संयोग से बना हुआ है किंतु संशोधनोंका त एक खड़ी रेखा फिर एक आड़ी रेखा और खड़ी पाई (।-I) के संयोगसे बना हुआ है।

न—पंचनामेका न शून्य और आड़ी रेखा (० -) के संयोगसे बना हुआ है; किंतु संशोधनोंका न एक त्रिकोण और आड़ी रेखा (•-) के संयोगसे बना हुआ है।

भ—ऊपर राजापुरवाले भ के संबंधमें जो कहा गया है, वही पंचनामेके भ के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनों लगभग एकसे हैं।

ह राजापुरके ह के संबंधमें ऊपर जोकहा गया है लगभग वही पचनामेके ह के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंमें बहुत साम्य है।

ु—राजापुरकी प्रतिमें आए हुए उकारकी मात्राके संबंधमें ऊपर जो कहा गया है, वही पंचनामेकी उकारकी मात्राके संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंकी लिखावटोंमें बहुत कुछ साम्य है।

'वाल्मीकि रामायण'के उत्तरकांडकी सं० १६४१ की प्रति, जो गोस्वामीजीके हाथकी लिखी कही जाती है, उसकी लिखावट भी इन संशोधनोंकी लिखावटसे नहीं मिलती। उदाहरणार्थ—

ज—ऊपर पंचनामेके ज के संबंधमें जो कहा गया है, वही 'वाल्मीकि रामायण' के ज के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंमें बहुत साम्य है।

ह—इसी प्रकार ऊपर राजापुरके संबंधमें जो कहा गया है, वही 'वाल्मीकि रामायण के ह के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंके ह एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हैं।

प्रस्तुत लेखके साथ न पचनामेका चित्र दिया जा रहा है और न, राजापुरकी प्रतिके पृष्ठोंका ही, इसलिए इस संबंधमें विस्तार व्यर्थ होगा। इतने-सेही कदाचित् यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन दोनों संशोधनोंकी लिखावट न तो राजापुरकी प्रतिकी लिखावटसे मेल खाती है और न पचनामे या 'वाल्मीकि 'रामायण की ही लिखावट से। फलत. यह मानना कदाचित् भूल होगी कि *प्रस्तुत बालकांडकी प्रति तुलसीदासजीके हाथकी संशोधित की हुई है।*

एक और भूल संशोधनके पीछे भी इस प्रतिमें रह गई थी। वह इसप्रकार है—प्रतिके ४० वें पत्रके अपरार्द्धमें हो, जिसपर की एक भूलका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, यह भूल भी पड़ती है। होना चाहिए था[१]—

---

[१] 'रामचरितमानस', (रामदास गौड़का संस्करण), बाल०, दो० ७८

बेदि अवराधहु का तुम चहहू। हमसन सत्य मरमु (किन कहहू॥
सुनत रिषिन्हके बचन भवानी। बोली गूढ़ मनोहर बानी॥
कहत) बचन मन अति सकुचाई। हसिहहु सुनि हमार जड़ताई॥

किंतु प्रतिलिपि करनेमें 'सत्य मरमु' के आगे 'वचन' तकका वह अंश जो कोष्टकोंके भीतर रक्खा गया है छूट गया था। यह छूटा हुआ अंश लंबाईमें एक पंक्तिके बराबर है, इसलिए ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रतिलिपिकार एक पूरी पंक्तिही छोड़कर आगे की पंक्तिपर चला गया। पीछेसे, जो संशोधन पहली बार हुआ, उसमें बाएँ हाशिएपर 'किन कहहू' और 'कहत' लिखकर पहली और तीसरी चौपाई तो पूरी करदी गई फिर भी बीचवाली चौपाई नहीं लिखी गई। दूसरी बार जो संशोधन हुआ उसमें ऊपर किए हुए संशोधनपर हरताल लगाकर फिर वे ही शब्द लिखे गए, और फिर भी बीचवाली चौपाई नहीं लिखी गई। तीसरीबारके संशोधनमें किन्हीं महाशयने यह छूटी हुई चौपाई पत्रेके नीचेके हाशिएमें लिख दी, किंतु इस समय उसपर वह पतंगी कागज़ चिपकाया हुआ है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस भूल, और उसके सशोधनसे दो बातोंका पता चलता है, एक यह कि ४० वें पत्रेका अपरार्द्ध तुलसीदासजीका संशोधित किया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यथा ऐसी भद्दी भूल संशोधनके बाद भी बनी न रह जाती, दूसरी बात यह कि मूल-प्रतिको सामने रखकर भी इस प्रतिका संशोधन नहीं किया गया, क्योंकि अन्यथा दो-दो बारके संशोधनोंके पीछे भी इतनी मोटी भूलकर रह जाना असंभव था।

ऊपर संशोधनोंके जो उदाहरण दिए गए हैं, और तीन विशेष स्थलोंके संशोधनोंपर जो विचार किया गया है, उससे हम इन निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं—

१—संशोधन कब-कब और किनके द्वारा हुए, यह नहीं कहा जा सकता।
२—यह स्पष्ट है कि सशोधन कई बार और कई व्यक्तियों-द्वारा हुए।
३—संशोधन केवल प्रतिलिपिकी भूल सुधारनेके लिए ही नहीं बल्कि पाठ-सुधारके लिए भी किए गए हैं।
४—कुछ संशोधन बिना किसी विशेष मतलबके किए गए हैं।
५—सशोधन कदाचित् गोस्वामीजीके किए हुए नहीं हैं। और
६—संशोधन मूल प्रतिको सामने रखकर नहीं किए गए हैं।

ऐसी दशामें हमारे लिए यही अधिक उत्तम है कि संशोधनोंको एक ओर रखकर हम यह जाननेका उद्योग करें कि प्रतिलिपिकारने पहले-पहल क्या लिखा था। संतोषकी बात है कि ध्यानपूर्वक देखनेपर अधिकतर स्थलोंपर पूर्वका

पाठ हमें मिल जाता है। यह पाठ इस प्रकारका है कि अभीतक 'मानस' की कोई भी प्रति वैसा पाठ हमारे सामने नहीं रख सकी है का कारण भी स्पष्ट है—एकतो इतनी प्राचीन प्रति हमें प्राप्त होते हुए भी का यथोचित उपयोग हमने अभीतक नहीं किया है, दूसरे हमारे अधिकतर दकोंने पाठके लिए अपनी सुरुचिको ही प्रमाण माना है। यदि उनकी रुचिके अनुसार पाठ किसी भी प्रतिमें मिल गया है, तो उन्होंने उसे स्वीकार करके अन्य पाठोंकी अवमानना की है।

अयोध्याकी किसी प्रतिका उपयोग 'रामचरितमानस' के सपादनमें श्रीराम दास गौड़ने किया है, यह उसके एक पृष्ठके फुटनोटस जान पड़ता है।[1] उक्त फुटनोटमें वे लिखते हैं "अयोध्याकी प्रतिमें 'कमनासा' यह पाठ हरताल लगा कर बनाया गया है, और ऐसा प्रसिद्ध है कि तुलसीदासजीने इस प्रतिको शुद्ध किया था।" लेखकको प्रस्तुत बालकाण्डकी प्रतिमें यह सशोधन मिला है जिससे उसका अनुमान है कि गौड़जीका अभिप्राय ऊपरके उल्लेखमें इसी प्रतिस है। गौड़जी द्वारा सपादित 'रामचरितमानस' के बालकांडका पाठ अन्य सपादित प्रतियोंके बालकाडके पाठोंकी अपेक्षा प्रस्तुत प्रतिके पाठके अधिक निकट है इससे भी लेखकके उपर्युक्त अनुमानकी पुष्टि होता है। किंतु 'मानस' के मूल-पाठकी भूमिकामें उन्होंने लिखा है[2] "सवत् १७२१ का लिखा जिस प्रति स काशीके श्रीभागवतदास छत्रीने पोथी छपवाई थी वह मेरी निगाहमें अधिक शुद्ध और प्रामाणिक है अधिकाश पाठ उसीसे मिलाया गया है,।" यह उन्होंने सवत् १७०४ की उस प्रतिको तुलनामें लिखा है जिसको प्रयागके इडियन प्रेस, द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' के सपादकोंने अधिक महत्त्व दिया था। ऐसा लिखते समय बालकाडके पाठके लिए प्रस्तुत प्रति भी उनके ध्यानमें थी, ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर भी, गौड़जी द्वारा सपादित 'मानस' के बालकाडका पाठ अन्य सपादित प्रतियोंके पाठोंकी अपेक्षा प्रस्तुत प्रतिके पाठके अधिक निकट होनेके कारण नीचे उसीसे कुछ स्थल उद्धृत किए जाते हैं, और फिर वे ही स्थल स० १६६१ की प्रस्तुत प्रतिसे अविकल उद्धृत किए जाते हैं, जिससे यह विदित हो जाय कि प्रस्तुत प्रतिका उपयोग अभी कहाँतक हुआ है, और प्रस्तुत प्रतिके पाठकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं। विशेषताओंको स्पष्ट करनेके लिए निम्न-रेखाओंका प्रयोग कुछ स्वतत्रता-पूर्वक किया गया है। इससे अपनी प्रतियों के पाठों

[1] रामचरितमानस (रामदास गौड़का सस्करण) पृ० ७, फुटनोट २
[2] वही, भूमिका, पृ० २

का मिलान करनेमें पाठकोंको सुविधा होगी, और साथही साथ प्रस्तुत प्रतिकी प्रमुख विशेषताएँ भी स्वतः स्पष्ट हो जावेंगी—

(१) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड नाम दुहूँ ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥
प्रौढि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एक दारु गत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेँउ नाम बड ब्रह्म राम तें॥
ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

दो०—निरगुन तें एहि भाँति बड नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड राम तें निज बिचार अनुसार ॥२३॥

(२) सो०—लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेस हरि-माया-बलु जानि जिय ॥५१॥
जौ तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परिच्छा लेहू॥
तब लगि बैठ अहउँ बट छाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतन बिबेक बिचारी॥
चली सती सिव आयसु पाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥
इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छ सुता कहँ नहिं कल्याना॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढावइ साखा॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा। गई सती जहँ प्रभु सुख धामा॥
दो०—पुनि पुनि हृदय बिचार करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पथ तेहि जेहि आवत नरभूप ॥५२॥

(३) कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे॥
पीत-जग्य-उपबीत सोहाए। नखसिख मंजु महा छबि छाए॥
देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन टरत न टारे॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई। मुनि पद-कमल गहे तब जाई॥
करि बिनती निज कथा सुनाई। रंगअवनि सब मुनिहि देखाई॥
जहँ जहँ जाहिं कुअँर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥
निज निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेषा॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महा सुखु लहेऊ॥

दो०—सब मचन्ह तें मच एक सुंदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल ॥ २४४ ॥

(४) बामदेव रघु-कुल-गुरु ग्यानी। बहुरि गाधि सुत कथा बखानी॥
सुनि मुनि सुजस मनहिं मन राऊ। बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ॥

बहुरे लोग रजायसु भयऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गयऊ॥
जहँ तहँ राम ब्याह सब गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा॥
आये ब्याहि राम घर जब तें। बस अनंद अवध सब तब तें॥
प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥
कवि कुल-पावन पावन जानी। राम-सीय-जसु मंगल खानी॥
तेहि तें मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज-बानी॥

छंद—निज गिरा पावनि-करन-कारन रामजसु तुलसी कहेउ।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कौनै लहेउ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम प्रसाद तें जन सर्बदा सुख पावहीं॥

सो०—सिय-रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं
तिन कहँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु॥ ३६१॥

सं० १६६१ की प्रतिके अनुसार उपर्युक्त स्थलोंका पाठ क्रमशः इसप्रकार है :—

(१) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किये जेहि जुग निज बस निज बूते॥
प्रौढ़ सुजन जन जानहि जनकी। कहउ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नामतें। कहेउ नामु बड़ ब्रह्म रामतें॥
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंदरासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतनतें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतनतें॥

॥ दोहा ॥ निरगुनतें येहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउ नाम बड़ रामतें निज बिचार अनुसार॥

(२) ॥ सोरठा ॥ लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेसु हरि माया बलु जानि जिय॥ ५१॥

जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥
तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥
जैसें जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी॥
चलीं सती सिव आयसु पाई। करहिं बिचारु करौं का भाई॥
इहां संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहु नहिं कल्याना॥
मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥

॥ दोहा ॥ पुनि पुनि हृदय विचारु करि धरि सीताकर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप ॥ ५२ ॥

(३) कटि तूनीर पीत पट बाँधें। कर सर धनुष बाम बर काँधें ॥
पीन जग्य उपबीत सोहाये। नख सिख मंजु महा छवि छाये ॥
देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥
हरषे जनकु देखि दोउ भाई। मुनि पद कमल गहे तब जाई ॥
करि विनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥
जह जह जाहि कुअर बर दोऊ। तह तह चकित चितव सब कोऊ ॥
निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु विसेखा ॥
भलि रचना मुनि नृपसन कहेऊ। राजा मुदित महा सुखु लहेऊ ॥
॥ दोहा ॥ सब मंचन्हतें मंचु एकु सुंदर विसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तह बैठारे महिपाल ॥ २४४ ॥

(४) बामदेव रघुकुल गुर ग्यानी। बहुरि गाधि सुत कथा बखानी ॥
सुनि सुनि सुजसु मनहि मन राऊ। बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥
बहुरे लोग रजायसु भएऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ ॥
जह तह रामु ब्याहु सब गावा। सुजसु पुनीत लोक तिहु छावा ॥
आये ब्याहि रामु घर जब तें। बसे अनंद अवध सब तब तें ॥
प्रभु बिआह जस भयउ उछाहू। सकहि न बरनि गिरा अहिनाहू ॥
कबिकुल जीवनु पावन जानी। राम सीय जसु मंगल खानी ॥
तेहिते मे कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी ॥

॥ छंद ॥ निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पारु कवि कौने लह्यो ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
वैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्वदा सुखु पावहीं ॥
॥ सोरठा ॥ सिय रघुबीर बिवाहु जे सप्रेम गावहि सुनहि।
तिन्ह कहु सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु ॥ ३६१ ॥

प्रतिलिपि करनेमें जो भूलें असावधानीके कारण होजाती हैं उनका विचार थोड़ी देरके लिए अलग रखकर, पाठोंकी शुद्धता और अशुद्धताके विषयमें जब हम कहा करते हैं तब हमारा आशय मूल प्रतिके पाठसे उस पाठकी सन्निकटतासे होता है जिसके पाठका हम उल्लेख करते हैं। हमारी प्रतिका पाठ मूल-प्रतिके पाठसे जितना ही निकट होता है उतना ही हम उसे शुद्ध कहते हैं, और वह जितना ही दूर होता है उसे हम उतना ही अशुद्ध कहते हैं। 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' इन दो शब्दोंके अतिरिक्त हिंदी ग्रंथोंके संपादनमें एक और शब्दका प्रयोग किया गया है—वह शब्द 'उत्तम' है। जहाँपर इस शब्दका प्रयोग किया जाता है वहाँ

मूल पाठसे निकटता कुछ अधिक आदरणीय वस्तु नहीं समझी जाती। यदि हमारी प्रतिका पाठ भाषाकी दृष्टिसे अन्य किसी प्रतिके पाठसे अधिक काव्योचित होता है, या वह भाषाकी दृष्टिसे अन्य किसी प्रतिके पाठकी अपेक्षा व्याकरणके प्रचलित रूपोंकी अधिक रक्षा करता हुआ दिखाई देता है तो हम अधिकतर कहा करते हैं कि *हमारी प्रतिका पाठ उस दूसरी प्रतिके पाठकी अपेक्षा उत्तम है।* 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' शब्दोंका प्रयोग भी असावधानीसे कभी-कभी इसी आशयमें किया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि हमारी अधिकतर संपादित पुस्तकोंमें इस बातपर विशेष ध्यान नहीं रक्खा गया है कि कवि या रचयिताने वस्तुतः क्या लिखा होगा। फलतः इन संपादित पुस्तकोंके आधारपर उसकी भाषा और शब्दोंके रूपोंके संबंधमें किसी निष्कर्षपर पहुँचना और भी अधिक अनिश्चयात्मक हो गया है। तुलसीदासजीकी अवधीका क्या रूप था, यह एक स्वतंत्र लेखके उपयुक्त *विषय है, इसलिए अभी हम उसके किसी प्रकारके विस्तारमें नहीं जा* सकते। ऊपर बालकांडके कुछ स्थल श्रीरामदास गौड़जी-द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' से लेकर उन्हींको सं० १६६१ वाली प्रतिसे भी उद्धृत किया जानेका मुख्य अभिप्राय इतना ही है, कि इस पिछली प्रतिके पाठकी प्रमुख विशेषताएँ पाठकोंको ज्ञात हो जायँ और उसका साधारण परिचय उन्हें मिल जाय। पाठोंकी 'उत्तमता' का दृष्टिकोण हम थोड़ी देरके लिए अलग रखकर उनकी 'शुद्धता' की ओर ध्यान देना चाहिए। पाठकोंको कदाचित् उपर्युक्त प्राचीन प्रतिका ही पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ेगा। उसकी प्रमुख विशेषताएँ बहुत कुछ स्वतः स्पष्ट हैं। केवल एक छोटी विशेषताकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करके लेख समाप्त करना है, वह है शब्दोंके उकारांत रूपोंकी। प्रचलित प्रतियोंमें उकारांत रूप कभी-कभी मिल जाया करते हैं, किंतु साधारणतः उनका बहिष्कार किया गया है। *प्रस्तुत प्रतिमें यह रूप बहुतायतसे मिलता है, जैसा ऊपरके उद्धरणोंसे* ज्ञात होगा। राजापुरकी प्रतिमें भी यह बाहुल्य इसीप्रकार मिलता है। जान पड़ता है, जितना ही हम इधर आते हैं यह रूप उतना ही लुप्त होता गया है, इसीलिए इधरकी हस्तलिखित प्रतियोंमें भी यह बहुत कम मिलता है। किंतु तुलसीदासजी स्वयं इसका प्रयोग प्रचुर परिमाणमें करते थे, यह वचनामेंमें आए हुए इस दोहेसे प्रकट है—

> तुलसी जान्यो दसरथहिं धरमु न सत्य समान।
> राम तजे जेहि लागि बिनु रामु परिहरे प्रान॥

'विनयपत्रिका' में सुरक्षित तुलसीदासके आध्यात्मिक विचार

तुलसीदासके आध्यात्मिक विचारोंका कुछ-न-कुछ परिचय तो उनकी प्रत्येक रचनासे मिल सकता है, किंतु उनका जितना ययातथ्य, स्पष्ट और बहुत-कुछ पूर्ण परिचय हमें 'विनय-पत्रिका' के पदोंसे मिल सकता है, उतना कदाचित् उनकी अन्य रचनाओंमें से किसीसे नहीं। इसका कारण भी प्रकट ही है। 'विनयपत्रिका' के पदोंमें कविने बड़ी ही तन्मयता और आत्म-विस्मृतिके साथ अपने समस्त उद्गारोंको व्यक्त किया है। फिरभी, हमने अभीतक इन पदोंका केवल इतना उपयोग किया है कि विशेषतः 'रामचरितमानस' के आधारपर कविके दार्शनिक विचारोंका विवेचन करते हुए एकाध स्थल पर इनके कुछ अंश-भर उद्धृत कर देनेकी उदारता दिखाई है। फलतः, लेखक प्रस्तुत निबंधमें केवल इन पदोंमें व्यक्त कविके आध्यात्मिक विचारोंका यथा-शक्ति उसीके शब्दोंमें उल्लेख करनेका प्रयास कर रहा है, और आशा करता है कि विद्वानोंका ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित होगा।

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी ॥ १२१ ॥

कविके आध्यात्मिक विचारोंका प्रारंभ कदाचित् इसी विश्वाससे होता है कि साधारण दृष्टिसे देखनेपर जिस संसारको हम रमणीय समझते हैं, परिणाममें वह बड़ा ही भयंकर है। जिसे हम सुखप्रद समझते हैं, विचार करनेपर वही निस्सार निकलता है—तृषार्त होकर हम जलकी खोजमें निकलते हैं, किंतु हमें मिलती है मृग-मरीचिका मात्र। इसीसे हम और भी दुखित होते हैं—

मैं तोहिं अब जान्यों संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरिके बल प्रगट कपटआगार ॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए विचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महा मोह मृगजल सरितामहँ बोरयो हौं बारहिं बार ॥ १८८ ॥

यह रचना देखनेमें अत्यंत विचित्र है, यद्यपि परिणाममें बड़ी भयानक भी है। किंतु, स्वतः यह सत्य है या असत्य, या अंशतः सत्य और अंशतः

असाध्य, यह कहना कठिन है। कवि तो इन तीनों विचारोंको भ्रम मात्र मानता है—

> केसव कहि न जाइ का कहिए।
> देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
> सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
> धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
> रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहिमाँही।
> बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
> कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
> तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥ १११॥

किंतु, इस संसारके हमारे लिए भयानक होनेका कारण हमारा ही भ्रम अथवा अविवेक है, इसमें सन्देह नहीं—

> हे हरि यह भ्रम की अधिकाई।
> देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाइ॥
> जो जग मृषा तापत्रय अनुभव होहि कहहु केहि लेखे।
> कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रमतें दुख होइ बिसेखे॥
> सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
> कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै॥ १२१॥
> अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं।
> बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्यो कीरकी नाईं॥
> सपने ब्याधि बिबिधि बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई।
> बैद अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई॥
> सपने नृप कहँ घटै बिप्रबध बिकल फिरै अघ लागे।
> बाजिमेध सतकोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे॥
> स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होय अबिचारे।
> बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहिं मरै न मारे॥
> निज भ्रमतें रबिकर संभव सागर अति भय उपजावै।
> अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै॥ १२२॥

रस्सीको देखकर हमें सर्पका भ्रम होता है और हम भयभीत होते हैं, इस भयको दूर करनेके दो उपाय हो सकते हैं—या तो रस्सी हमारे सामनेसे हट जावे या हमीं अपनी चेतनाको सँभालें। पहलेकी अपेक्षा दूसरे उपायका प्रयोग ही अधिक श्रेयस्कर होगा, क्योंकि बिना किसी स्थूल आधारके भी भ्रमका अस्तित्व सम्भव है, जैसे स्वप्नमें हम समुद्रमें डूबनेकी यातनाका अनुभव करें—यहाँपर रस्सीकी भाँति कोई स्थूल आधार नहीं है। फलतः संसार-त्याग अथवा कर्म-

सन्यासकी विशेष आवश्यकता नहीं है, वास्तविक आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपनी चेतनाको जाग्रत करें। जो दु ख हम उठा रहे हैं, वह हमारे ही मनकी मूढ़ताके कारण है। इसी मूढ़ मनके बहँकावेमें आकर अनेक जन्मतक हम अपना दु ख रोते रहे। अभीतक हमने किया ही क्या? कर्मोंमें आसक्त होकर उसके कीचड़में हम अपनी चेतनाको जो लिप्त करते रहे हैं, कहीं इससे भी वह निर्मल हो सकती है?

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
याके लिए सुनहु करनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोह बस वृथहि मंदमति बारि बिलोयो॥
करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहि गोयो।
डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो॥ २४५॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें दिनरात भटकते हुए हमारे मनने कभी विश्राम नहीं किया। यद्यपि इस बीच उसे दु खोंका ही सामना करना पड़ा फिर भी वह जान-बूझकर उनसे विरत न हुआ। अबतक तो चित्तको वह कर्म-कीचमें ही लिप्त करता रहा और उसे निर्मल करनेकी शक्ति जिसमें है, उस विवेक-नीरकी प्राप्तिका उसने तनिक भी उद्योग नहीं किया—

कबहुँ मन बिश्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो॥
जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानत हूँ नहि जान्यो॥
जनम अनेक किए नाना बिधि करमकीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों हरषि हृदय नहि आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहि जनम सिरान्यो॥ ८८॥

यह कहना तो सरल है कि मनको शुद्ध कर लेनेसे ही सारा काम बन जायगा, किंतु इसको व्यवहारमें लाना दुस्साध्य है क्योंकि मन हमारे कहनेमें नहीं आता। यदि वह हमारा कहना ही मानता तो हम यह दुर्गति क्यों भोगते? उसको हम रात दिन अनेक शिक्षाएँ देते हैं, फिरभी वह अपना कुटिल स्वभाव नहीं छोड़ता है—

मेरो मन हरि हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै॥
ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसीदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥ ८९॥

इसी मनके लिए भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदि कितने ही साधन हमने इकट्ठे किए, किंतु तब भी इसने अपने अहम्मन्यत्व और लोभको न छोड़ा—

है हरि कवन जतन भ्रम भागै।
देखत सुनत बिचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागै॥
भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहउ देउ कछु कोऊ असि बासना न उरतें जाई॥ ११०॥

विचित्र हैं इसके आचरण भी, कभी तो यह दीन बना रहता है, और कभी अभिमानी राजा बन बैठता है, कभी तो निरा मूर्ख बनता है, फिर कभी धर्मात्मा पंडित होनेका स्वांग करता है—

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिधि ज्वर करत फिरत बौराई॥
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ बियोगबस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत कबहुँ धरमरत ज्ञानी॥ ८१॥

जिन इंद्रियोंके द्वारा हमारा मन अनेक दुष्कर्मोंमें अबतक लिप्त रहा, उन्हींसे यदि वह चाहता तो कितने ही शुभ अनुष्ठान कर सकता था। किंतु वह सब उसने कुछ नहीं किया—

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो॥
ज्यों चितई परनारि सुने पातक प्रपंच घर घरके।
त्यों न साधु सुरसरि तरंग निर्मल गुनगन रघुबरके॥
ज्यों नासा सुगंध रस बस रसना षट रस रतिमानी।
रामप्रसाद माल जूँठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी॥
चंदन चंद्रबदनि भूषन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति पद पदुम परसको तनु पातकी न तरस्यो॥

ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेए बपु बचन हिए हूँ।
त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
रामसीय आश्रमनि चलत त्यों भए न श्रमित अभागे॥ १७०॥

मनकी शुद्धिके लिए यों तो जप, तप, तीर्थ, योग और समाधि आदि अनेक साधन पुराणों और श्रुतियोंमें वर्णित हैं, किन्तु प्रबल कलिकालने उन सब की शक्तिका ह्रास कर दिया है। फलतः इस कलिकालमें हमारे भ्रमका नाश एक हरि-कृपासे ही सम्भव है—

जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी॥
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥
हरनि एक अघ असुर जालिका। तुलसिदास प्रभु कृपा कालिका॥ १२८॥

माया, मोह, अथवा भ्रम का संयोग इस जीवके साथ केवल ईश्वर की प्रेरणासे हुआ है इसीलिए उस मायाका नाश भी ईश्वरकी कृपासे ही संभवहै—

दोष निलय यह बिषय सोकप्रद कहत संत स्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ हरि सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे॥ १८६॥

है स्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥ १०२॥

सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास यह मोह सृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे॥ ११४॥

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥ १२०॥

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित मोह न छूटै माया॥ १२३॥

संक्षेपमें कविका यह दृढ़ विश्वास है कि बिना हरि कृपाके हमारे भ्रमका नाश असंभव है—

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै॥
तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै॥

जेहिके भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परयो जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥११६॥

इसप्रकार, क्रमशः हम यह देखते हैं कि संसार दुःखमय है। दुःखका कारण हमारा ही भ्रम है। भ्रमके नाशके लिए संसार-त्याग या कर्म-संन्यास नितांत आवश्यक नहीं। यदि अपना मन ही समस्त विकारोंको छोड़कर अपने सहज-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर ले तो हमारे भ्रमका स्वतः नाश हो जाय और पुनः वही संसार सुखमय हो जाय। किंतु अपने सहज-स्वरूपका ज्ञान तो सरल नहीं है, क्योंकि हमारा मन स्वभावतः ऐसे कर्मोंमें आसक्त रहा करता है कि वह और भी विकार-ग्रस्त होता जाता है, फलतः इसकी शुद्धि और भ्रमका नाश हरि-कृपासे ही संभव है। कारण यह है कि जिसकी प्रेरणासे मायाने इस जीवको आच्छादित कर लिया है, उसीके कहने से वह उसे छोड़ भी सकती है, अन्य साधन भी इस भ्रमके नाशके लिए श्रुतियों और पुराणोंमें कहे गए हैं, किंतु कलिकालके आतंकसे वे सभी निर्बल हो गए हैं। केवल एक साधन शेष रहता है वह है रामके चरणोंमें अनुरक्ति। बिना इस अलौकिक जलके हमारे जन्मोंका मल दूर नहीं हो सकता—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥
तुलसिदास ब्रतदान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥८२॥

यदि हम बिना योग, यज्ञ, तप आदिके संसारसे मुक्त होना चाहते हैं तो बस यही करना है कि दिन-रात रामके चरणोंका चिंतन करते रहें—

जो बिनु जोग जग्य ब्रत संजम गयो चहत भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसिबासर हरि पद कमल बिसारहि॥८५॥

अन्य साधनोंकी अपेक्षा भक्तिका मार्ग बहुत सीधा है। निरे ज्ञानसे यदि हम आत्म-परिचय चाहते हैं तो बड़ा समय लगेगा—

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥१२४॥

हमारे कविको तो कोई दूसरा भरोसा नहीं दिखाई पड़ता, दूसरे लोग चाहे जो करें। उसका कहना है कि उनके कर्मोंका फल जब उन्हें मिल जायगा तभी वे उसके कथनकी सत्यतापर विश्वास करेंगे। उसके गुरुने तो अनेक मतोंको सुनकर, अनेक पंथों और पुराणोंका अध्ययन करनेके अनंतर, और सभी झगड़ोंका निर्णय करके उसको रामकी भक्तिका उपदेश किया, वही उसे राजमार्ग सा लगता है।

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो सो॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायहि पै जानिबो करमफल भरिभरि वेद परो सो॥
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ग्यान विराग हरो सो।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहुमत सुनि बहु पथ पुराननि जहां तहां झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीत प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भव सागर चाहै तरन तरो सो॥१७३॥

किंतु 'रघुपति-भक्ति' कहनेको ही सरल है, उसका निर्वाह अत्यंत कठिन है, विरले ही व्यक्तियोंको उसका अनुभव है। उसके लिए हमें द्वैत-भावनाका सर्वथा त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि बिना इस द्वन्द्व-त्यागके हम रामके चरणोंमें उत्पन्न उस अलौकिक सुखका न तो अनुभव कर सकते हैं, और न हमारे भ्रमका नाश होता है—

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकतामहँ बलतें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं॥१६७॥

यदि हम अपने मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे खींचकर रामके चरणोंमें स्थापित कर सकें तभी हमारी भक्ति दृढ़ हो सकती है, किंतु यह भी तभी संभव है जब

हमारी इस इन्द्रियोंके सर्वनाश-रूप दशाननके नाश करनेवाले राम करुणासे द्रवित हों—

सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस।
तुलसिदास यह होहि तबहि जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस ॥२०४॥

इतनी कल्याणकी पूँजी प्राप्त करना कठिन नहीं है, उसके लिए बस इतना ही चाहिए कि हम रामके मनमें यह बात बिठला दें कि हम उनसे प्रेम करते हैं। हमें अपने कर्मोंकी अच्छाई-बुराई अथवा अपने संस्कारोंके दूषित होने की चिंता न करनी चाहिए। नीचोंसे भी उनके प्रेमका आभास-मात्र पा जानेपर प्रेम करना रघुबीरकी साधारण 'बानि' है—

श्री रघुबीरकी यह बानि।
नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि॥
गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ताकहँ दियो जल निज पानि॥
प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि।
खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि॥
कौन सुभग सुसील बानर जिनहिं सुमिरत हानि।
किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि॥
राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि॥२१५॥

—और, यदि कोई व्यक्ति उनका दास हो जाता है तो वे स्वयं उसीके वशमें हो जाते हैं, रामकी यह भी पुरानी रीति है—

ऐसी हरि करत दासपर प्रीती।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीती॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति बाँध्यो हठि सकत न छोरी॥
जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन तेहि नाच नचायो॥
बिस्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख॥
जाको नाम लिए छूटत भव जनम मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार॥

जोग विराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
बानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी॥
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बेंत कर धारी॥ ९८॥

राम तो अकेला प्रीतिका ही नाता रखते हैं, और उसके आगे अन्य सभी नातोंको नीचा मानते हैं। उनके स्नेह और शील-स्वभावसे यदि हम भली-भाँति परिचित हो जावें तो हम स्वतः उनके भक्त हो जावेंगे—

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई।
ऐसेहुँ पितुतें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥
तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।
रन परयो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई॥
घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई॥
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपीस सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥
तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई॥
तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥ १६४॥

रामकी भाँति हमें अन्य स्वामी नहीं मिल सकता। प्रेम करनेवालेसे कौन कहे द्रोह करनेवालेसे भी वे स्वयं प्रेम ही करते हैं, दूसरा ऐसा स्वामी हमें कहाँ मिलेगा?

ऐसी कौन प्रभुकी रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनिपर प्रीति॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादव राइ॥
काममोहित गोपिकनिपर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह॥
नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आपमें हरि राज सभा मँझारि॥
ब्याध चित दै चरन मारयो मूढ़ मति मृग जानि।
सो सदेह सुलोक पठयो प्रगट करि निज बानि॥
कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ॥ २१४॥

फलतः, जब हम रामके संपूर्ण कृत्योंका अनुशीलन करते हैं, तो एक विशेषता हमें समान रूपसे सर्वत्र मिलती है—वह है उनका शील स्वभाव। बचपनसे लेकर राज्यारोहणतक उनका छोटेसे छोटा से लेकर बड़ेसे बड़ा कार्य इसीसे ओत-प्रोत है। इसलिए, यदि हम इस शीलको ध्यानमें रखते हुए रामकी गुण-गाथाका मनन करें तो निस्संदेह हमारे चित्तमें स्वतः रामके प्रति अनुराग उत्पन्न होगा, और इसी अनुरागकी वृद्धिसे हमें अनायास ही उनके प्रेमका प्रसाद भी प्राप्त हो जाएगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपनतें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए पछिताउ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पाँइ परि इतौ न अनत समाउ॥
कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातुको मनु जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव बिभीषन तिन न तज्यो छल छाउ।
भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥
समुझि समुझि गुन ग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ॥
तुलसिदास अनयास राम पद पाइहै प्रेम पसाउ॥ १००॥

रामकी गुण-गाथाके मननके अतिरिक्त उनकी कृपा प्राप्तिका एक अन्य सहयोगी उपाय भी है—वह है नाम-स्मरण। राम-नामके जपसे हृदयकी ज्वाला शांत होती है। कर्म तथा ज्ञानके साधन कलिकालकी करालतासे शक्तिहीन हो गए हैं, इसीलिए काशीमें मरते हुए व्यक्तिको शिव भी उसकी मुक्तिके लिए इसी मंत्रका उपदेश किया करते हैं। यदि केवल हम नाम-स्मरणका ही अवलंब लें तो भी राम स्वतः हमारे ऊपर कृपालु हो जायँगे—

राम नामके जपे जाइ जियकी जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि॥
करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदर भरनि॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष बेष कहूँ न करनि।
कपट कुपथ कोटि कहनि रहनि खोटि सकल सराहैं निज निज आचरनि॥
मरत महेस उपदेस है कहा करत सुरसरि तीर कासी धरम धरनि।
राम नामको प्रताप हर कहैं जपैं आपु जुग जुग जानै जग बेदहूँ बरनि॥
मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनाम ही की बिपति हरनि।
राम नामसों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि॥ १८४॥

ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिसकी रक्षा रामने अपने नामकी लज्जा रखनेके लिए न की हो, इसी विश्वाससे कवि कितने ही कष्टोंको झेलता हुआ भी अपना हठ नहीं छोड़ता है। कभी न-कभी तो उसकी प्रार्थना सुनी जाएगी—

सो धौं को जो नाम लाजतें नहीं राख्यो रघुबीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी सकल भव भीर॥
बेद बिदित जग बिदित अजामिल बिप्र बंधु अघधाम।
घोर जमालय जात निवार्‌यो सुत हित सुमिरत नाम॥
पसु पाँवर अभिमान सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह।
सुमिरत सकृत सपदि आए प्रभु हर्‌यो दुसह उरदाह॥
ब्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुन मूल।
नाम ओटतें राम सबनिकी दूर करी सब सूल॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन्हते रघुकुल भूषन भूप।
सीदत तुलसीदास निसि बासर पर्‌यो भीमतम कूप॥ १४४॥

'दूसरोंको जिसपर विश्वास हो वे उसका भरोसा करें, तुलसीदासको तो इस कलिकालमें नामका कल्याण-कल्पतरु मिल गया है। कर्म, ज्ञान और उपासना आदि सभी मार्ग वेदोंसे प्रमाणित हैं, किंतु तुलसीदासको तो सावनके अंधेकी तरह नामकी ही हरियाली सूझती है। कभी वह कुत्तोंकी तरह क्षुधा तृप्तिके लिए पत्तलें चाटता फिरता था, आज वही नाम-स्मरण-मात्रसे अपने सामने अमृत परसा हुआ देख रहा है। जिसका जिससे प्रेम हो वह उससे डरे, किंतु तुलसीदास तो अपने माता पिता-स्वरूप नामके दो अक्षरोंसे बच्चे की भाँति हठ कर रहा है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावनके अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥

आरत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरो॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि तें तुलसिहि समुझि परो॥ २२६॥

किंतु, नामसे भी हमारी साधारण लगन न होनी चाहिए, उसमें हमारी वैसी ही दृढ़ लगन होनी चाहिए जैसी चातककी नवीन मेघसे होती है बादल गरजकर, कड़ककर, और वज्र की वर्षा करके पपीहेके प्रेमकी परीक्षा करता है, किंतु इन सब कठिनाइयोंसे चातकके हृदयमें अधिकाधिक अनुराग ही उमँगा करता है। हमें भी यही उचित है कि हम पपीहेका अनुकरण करते हुए उसी दुर्गम पथकी प्रेम-मार्गके पथिक बनें और इसकी तनिक भी चिंता न करें कि हमारा प्रेम-पात्र भी हमसे प्रेम करता है या नहीं। हमारा हित इसी बातमें है कि हम अपनी ओरसे अविचलित-चित्त होकर इस नियमका पालन करते जायँ—

राम राम रटु राम राम रटु राम राम जपु जीहा।
राम नाम नवनेह मेहको मन हठ होहि पपीहा॥
सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा॥
गरजि तरजि पाषान बरसि पवि प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचानै॥
राम नाम गति रामनाम मति राम नाम अनुरागी।
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़ भागी॥
एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं॥ ६५॥

नाम-स्मरणके अतिरिक्त राम-भक्तिका एक अन्य सहयोगी मार्ग भी है—वह है रामके दरवाज़ेपर बैठकर यही याचना करना कि हमें और कुछ भी नहीं चाहिए, हम केवल उनकी भक्तिके भूखे हैं। हमारी यह भूख कुछ इसी जन्मकी नहीं, वह न जाने कितने जन्मोंकी है। कई जन्मोंके अनंतर तो साधन-धाम यह मानव-देह प्राप्त हुआ, यदि इस देहसे भी यह असाधारण क्षुधा न मिट सकी तो आगे न जाने कितने जन्मोंतक भूखा ही रहजाना पड़ेगा। इसी विश्वाससे कवि कैसी हृदय द्रावक प्रार्थना करता है!

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन मन ऊँच जैसी कोढ़में की खाज॥
हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहुँ से कोउ कतहुँ तिन्ह कह्यो कोसलराज॥
दीनता दारिद दलैको कृपा बारिधि बाज।
दानि दसरथ रायके तुम बानइत सिरताज॥
जनमको भूखो भिखारी हौं गरीब निवाज।
पेट भरि तुलसिहि जेवाइय भगति सुधा सुनाज॥ २१९॥

'भगवन्, आप ही बताइए दूसरा 'दीनबन्धु' मुझे कहाँ मिलेगा मैं तो जिसके ही विषयमें अपना ध्यान दौड़ाता हूँ, वही मुझे अयोग्य या अकृपालु दिखाई पड़ता है। मैंने माना कि मैं अपने मुखसे आपका सेवक बनता हुआ भी लालची और कामी हूँ, किंतु कुछ अधिक तो आपसे माँगता भी नहीं। मेरी याचना तो इतनेके ही लिए है कि मुझे आप अपने द्वारपर पड़ा रहने दें और अपने गुणोंका कीर्तन करते रहने दें—

दीनबंधु दूसरो कहँ पावों।
को तुम बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों॥
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गवावों॥
गोपद बुड़िबे जोग करम करौं बातन जलधि थहावों।
अति लालची काम किंकर मन मुख रावरो कहावों॥
तुलसी प्रभु जियकी जानत सब अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावों॥ २३२॥

'भगवन्, यदि आप यह समझते हों कि मैं अन्यत्र कहीं नहीं गया और सीधा आपके ही पास आया, तो आपका यह अनुमान ठीक नहीं है। मैंने तो कोई भी ऐसा दरवाजा न होगा जिसको न खटखटाया हो, ऐसा एक भी भी व्यक्ति न मिलेगा जिसके आगे शीश न झुकाया हो, और अपना क्षुधार्त पेट न सहलाया' हो। चारों ओर सिर मारकर ही अन्तमें आपकी शरणमें आया हूँ। बड़ी दूरसे आप का यश सुनकर सेवामें उपस्थित हुआ हूँ, तुलसीदासको आश्वासन दीजिए—'

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो।
राम रावरे बिन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो॥
आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो॥

अगन अगन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥
नाथ हाथ कछु नाहिं लग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहि लोभ लघु निलज नचायो॥
स्रवन नयन मग मन लगे सब थल पतितन धायो।
मूड़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो॥
दसरथके समरथ तुही त्रिभुवन जसु गायो।
तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो॥ २७६॥

मेरा और कौन है? किससे कहूँगा? सब प्रकारकी अपने मनकी उच्च आकांक्षाओंको किससे सुनाकर सुख लाभ करूँगा? मुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि फलोंकी तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि आपकी बाल-क्रीडाके लिए खग, मृग, तरु, अथवा किंकर होकर आपका प्रीति-पात्र बना रहूँ। इसी नाते मुझे नरकमें भी सुख मिलेगा और,इसके बिना स्वर्ग भी मुझे दुखदायी होगा। दासके हृदयमें इसीकी इतनी लालसा है कि वह आपकी जूती उठाकर कहता है कि या तो आप स्पष्ट वचन दीजिए, अन्यथा अपने हृदयमें लिख लीजिये कि आप तुलसीके इस प्रण का निर्वाह करेंगे।

और मोहिं को है काहि कहिहौं।
रंक राज ज्यों मनको मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं॥
जम जातना जोनिसंकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं।
मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं॥
खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहु सचु पइहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥
इतनो जिय लालसा दासके कहत पानही गहि हौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिए तुलसीको पन निर्बहिहौं॥ २३१॥

कविने ऊपर दिखाए गए राम-भक्तिके तीन प्रमुख साधनों—शील-स्वभाव चिंतन, नाम-स्मरण और आर्त-निवेदन—का महत्व एक ही पदमें इसप्रकार कहा है—

स्वामीको सुभाव कह्यो सो जब उर आनि है।
सोच सकल मिटिहैं राम भलो मानिहैं॥
भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फल पाइहै॥
जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिए।
बिचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए॥ २३५॥

ऊपरके उपदेशोंको अन्यत्र पुनः कविने इसप्रकार व्यक्त किया है—

बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगै न आधु।
पाहि कृपानिधि प्रेमसों कहे को न राम कियो साधु॥
बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न रामसों तेहि को उपदेसहि ज्ञान॥
का सेवा सुग्रीवकी का प्रीति रीति निरबाहु।
जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु॥
जपहि नाम रघुनाथको चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपालु नतपालु॥
सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुन गन रामके केहिकी न मिटी भव भीर॥
प्रभु कृतज्ञ सरबज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान पहिचानि॥ १९३॥

राम-भक्तिका एक अन्य अनिवार्य अंग सत्संग है, किंतु संतोंका संग भी हरि-कृपासे ही होता है। फलतः इस उद्देश्यसे भी कविने भगवान्‌का गुण-गान किया है—

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी। सो त्रय ताप सोक भय हारी॥
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥
जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए॥
जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए।
मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोधतें सहजहिं गए॥
सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्री रघुबीर चरन चित लागे॥
देह जनित बिकार सब त्यागे। तब फिर निज स्वरूप अनुरागे॥
अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवत न लेखिए॥
निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥
जो तेहि पथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई।
जो मारग श्रुति साधु बतावैं। तेहि पथ चलत सबै सुख पावैं॥
पावै सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।
यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गावई॥ १३६॥

साधु-संगतिका ही दूसरा पक्ष असाधुसे असहयोग है। इसीलिए कवि अपने एक अत्यंत प्रसिद्ध पदमें कहता है कि ऐसे व्यक्तिसे सर्वथा असहयोग ही करना होगा जिसे सीता-राम प्रिय न हों—वह व्यक्ति चाहे पिता, भाई, माता, गुरु, स्वामी या कोई भी क्यों न हो—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भए मुद मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥ १७४॥

भक्ति-मार्गके विविध अंगोंका एक पदमें पूर्ण संकलन करते हुए कविने ज्ञान-मार्गके भी कुछ अंगोंके साथ उनका विचित्र समन्वय इस प्रकार किया है—

जो मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम संतोष विचार विमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपासमुद्र हरि अगजग रूप भूप सीतावरु॥
इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥ २०५॥

कविने अपने लिए जीवनका जो आदर्श निर्मित किया है उसके उल्लेख-के विना लेख अधूरा ही रह जाएगा। नीचेका पद इसी अभिप्रायसे दिया जा रहा है। उसके इन थोड़ेसे शब्दोंमें उसके कुल आध्यात्मिक संदेशों का सार कितनी सजीवताके साथ आगया है!

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपाते संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहूसो कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भक्ति लहौंगो॥ १७२॥

अविचल हरि-भक्ति-लाभका यह कितना अनुकरणीय पथ है! ऐसे विचार-शील और निरंतर परहित निरत व्यक्तिके लिए तो संसारकी सभी अनिष्टकारी शक्तियाँ भी स्वतः आनंददायिनी सिद्ध होंगी, इसमें संदेह नहीं। कविके ही शब्दोंमें पुनः —

अलविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया विवेकतें व्यवहारी सुखकारी॥ १२१॥

भगवान् शिव और गोस्वामी तुलसीदास

यों तो शिवजीके साथ तुलसीदासके 'नाते' एकसे अधिक थे, जैसा 'मानस' में वे कहते हैं—

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी॥
सेवक स्वामि सखा सियपीके। हित निरुपधि सब बिधि तुलसीके॥[1]

किंतु ऐसा जान पड़ता है कि इनमें सबसे प्रमुख नाता गुरु-शिष्यका था। जीवन लीलाकी समाप्तिसे कुछ ही पूर्व श्रीराम, हनुमान् और शिवके साथ साथ जो उनके प्रमुख संबंध थे, उन्हें तुलसीदासने बाहुपीड़ासे पीड़ित होनेपर इसप्रकार स्पष्ट कहा था—

सीतापति साहब सहाय हनुमान नित
हित उपदेसको महेस मानो गुरुकै।
मानस बचन काय सरन तिहारे पायँ,
तुम्हरे भरोस सुर मैं न जाने सुरकै॥[2]

ऊपर जो चौपाई उद्धृत है, उसके प्रथम और चतुर्थ चरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम चरणमें कदाचित् स्वत सबसे प्रमुख नाता ही कविकी कल्पनामें पहले आता है। इस संबंधको ध्यानमें रखते हुए जब हम चतुर्थ चरण का मिलान ऊपर उद्धृत 'बाहुक' के छंदके दूसरे चरणसे करते हैं, तो भाव-साम्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'मानस' की रचना सं० १६३१ में हुई थी और बाहु-पीड़ा हुई थी उससे कदाचित् लगभग पचास वर्ष पीछे, फिर भी वह नाता इतना दृढ़ और निश्चित था कि उसमें कालने कोई अंतर नहीं डाला।

गोस्वामीजी ने 'मानस' में वाणी और विनायककी वंदना प्राचीन रूढ़िके अनुसार पहले श्लोकमें कर लेनेके पीछे दूसरे ही श्लोकमें अपने श्रद्धा और विश्वासके आदर्श भवानी और शंकरकी वंदना की है, क्योंकि अज्ञानका नाश और ज्ञानकी प्राप्ति बिना श्रद्धा और विश्वासके असंभव है, जैसा भगवान् श्रीकृष्णने 'गीता' में स्पष्ट कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्[3]

---

[1] 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण), बाल० १५
[2] 'बाहुक', ४२
[3] 'गीता', अध्याय ४, श्लोक ३९

अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है और

> अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
> नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

अर्थात् अज्ञ, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है और संशययुक्त पुरुषके लिए न सुख है, न यह लोक है और न परलोक ही है।[१]

तीसरे श्लोकमें गोस्वामीजी जब गुरुकी वंदना करने लगते हैं तो उनको समताके लिए उन्हें शंकरका ही ध्यान आता है—

> वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।

आगे चलकर सोरठोंमें जब दोबारा वे वंदना करते हैं तो पाँचवें सोरठेमें वे फिर गुरुकी वंदना करते हैं। मुद्रित प्रतियोंमें उसका पाठ इसप्रकार मिलता है—

> बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
> महामोह तम पुंज, जासु बचन रबि कर निकर॥

किंतु कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें दूसरे चरणके 'हरि' के स्थानपर 'हर' पाठ भी मिलता है।[२] दोनों पाठोंमें कौन सा अधिक सामीचीन है यह कहना कठिन है, फिर भी नीचे दिए हुए कारणोंसे 'हर' पाठ ही अधिक समीचीन जान पड़ता है—

१–वंदनाएँ जिन सोरठोंमें मंगलाचरणके श्लोकोंके पीछे की गई हैं, उनकी संख्या पाँच है। इन पाँच सोरठोंमें से प्रथम चार तुकांत हैं—प्रत्येकमें प्रथम और तृतीय, तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणोंके तुक आपसमें मेल खाते हैं और पाँचवें सोरठेमें भी, जो ऊपर उद्धृत किया गया है प्रथम और तृतीय चरणोंका तुक मिलता है। फलतः यह धारणा स्वतः उत्पन्न होती है कि द्वितीय और चतुर्थ चरणोंका भी तुक उस सोरठेमें भी मिल जाना चाहिए, और तुक मिलनेके लिए 'हर' पाठ आवश्यक है।

२–'वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्' पाठसे 'बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हर' पाठ मेल भी खाता है।

---

१ 'गीता', अध्याय ४, श्लोक ४०

२ (क) सं० १-७० की एक प्रति जो काशी के प्रसिद्ध कलाविद् और विद्वान् रायकृष्णदासजीके पास है, और

(ख) सं० १८७८ की एक प्रति जो लेखकके संग्रहमें है।

भगवान् शिव और गोस्वामी तुलसीदास

यों तो शिवजीके साथ तुलसीदासके 'नाते' एकसे अधिक थे, जैसा 'मानस' में वे कहते हैं—

गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी॥
सेवक स्वामि सखा सियपीके। हित निरुपधि सब बिधि तुलसीके॥[1]

किंतु ऐसा जान पड़ता है कि इनमें सबसे प्रमुख नाता गुरु-शिष्यका था। जीवन-लीलाकी समाप्तिसे कुछ ही पूर्व श्रीराम, हनुमान् और शिवके साथ साथ जो उनके प्रमुख संबंध थे, उन्हें तुलसीदासने बाहुपीड़ासे पीड़ित होनेपर इसप्रकार स्पष्ट कहा था—

सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित
हित उपदेसको महेस मानो गुरकै।
मानस बचन काय सरन तिहारे पायँ,
तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुरकै॥[2]

ऊपर जो चौपाई उद्धृत है, उसके प्रथम और चतुर्थ चरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम चरणमें कदाचित् स्वतः सबसे प्रमुख नाता ही कविकी कल्पनामें पहले आता है। इस संबंधको ध्यानमें रखते हुए जब हम चतुर्थ चरण का मिलान ऊपर उद्धृत 'बाहुक' के छंदके दूसरे चरणसे करते हैं, तो भाव-साम्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'मानस' की रचना सं० १६३१ में हुई थी और बाहु-पीड़ा हुई थी उससे कदाचित् लगभग पचास वर्ष पीछे; फिर भी वह नाता इतना दृढ़ और निश्चित था कि उसमें कालने कोई अंतर नहीं डाला।

गोस्वामीजी ने 'मानस' में वाणी और विनायककी वंदना प्राचीन रूढ़िके अनुसार पहले श्लोकमें कर लेनेके पीछे दूसरे ही श्लोकमें अपने श्रद्धा और विश्वासके आदर्श भवानी और शंकरकी वंदना की है, क्योंकि अज्ञानका नाश और ज्ञानकी प्राप्ति बिना श्रद्धा और विश्वासके असंभव है, जैसा भगवान् श्रीकृष्णने 'गीता' में स्पष्ट कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्[3]

---

[1] 'रामचरितमानस' (रामदास गौडका संस्करण), बाल० १५
[2] 'बाहुक', ४३
[3] 'गीता', अध्याय ४, श्लोक ३९

अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, और

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अर्थात् अज्ञ, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है और संशययुक्त पुरुषके लिए न सुख है, न यह लोक है और न परलोक ही है।[1]

तीसरे श्लोकमें गोस्वामीजी जब गुरुकी वंदना करने लगते हैं तो उनकी समताके लिए उन्हें शंकरका ही ध्यान आता है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।

आगे चलकर सोरठोंमें जब दोबारा वे वंदना करते हैं तो पाँचवें सोरठेमें वे फिर गुरुकी वंदना करते हैं। मुद्रित प्रतियोंमें उसका पाठ इसप्रकार मिलता है—

बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रबि कर निकर॥

किंतु कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें दूसरे चरणके 'हरि' के स्थानपर 'हर' पाठ भी मिलता है।[2] दोनों पाठोंमें कौन-सा अधिक सामीचीन है, यह कहना कठिन है, फिर भी नीचे दिए हुए कारणोंसे 'हर' पाठ ही अधिक समीचीन जान पड़ता है—

१–वंदनाएँ जिन सोरठोंमें मंगलाचरणके श्लोकोंके पीछे की गई हैं, उनकी संख्या पाँच है। इन पाँच सोरठोंमें से प्रथम चार तुकांत हैं—प्रत्येकमें प्रथम और तृतीय, तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणोंके तुक आपसमें मेल खाते हैं, और पाँचवें सोरठेमें भी, जो ऊपर उद्धृत किया गया है प्रथम और तृतीय चरणोंका तुक मिलता है। फलतः यह धारणा स्वतः उत्पन्न होती है कि द्वितीय और चतुर्थ चरणोंका भी तुक उस सोरठेमें भी मिल जाना चाहिए; और तुक मिलने के लिए 'हर' पाठ आवश्यक है।

२–'वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्' पाठसे 'बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हर' पाठ मेल भी खाता है।

---

[1] 'गीता', अध्याय ४, श्लोक ४०

[2] (क) सं० १८७० की एक प्रति जो काशी के प्रसिद्ध कलाविद् और विद्वान् रायकृष्णदासजी के पास है, और
(ख) सं० १८७८ की एक प्रति जो लेखकके संग्रहमें है।

३—सोरठेमें आई हुई शब्दावली 'महामोह मत पुंज, जासु बचन रबि-करनि कर' 'विनयपत्रिका' में संगृहीत पदों और स्तोत्रोंकी नीचे लिखी शब्दावलियोंसे विचित्र मेल खाती है—ये पद और स्तोत्र शिवजीको संबोधित करके कहे गए हैं[1]—

मोह निहार दिवाकर संकर ।
दव मोह तम तरनि । हर रुद्र संकर सरन ।
अहंकार निहार उदित दिनेस।
मोह तम भूरि भानु।

यह शब्दावली, जहाँतक लेखक का ध्यान है, तुलसीदासजीने किसी अन्य के लिए कहीं नहीं प्रयुक्त की है । इससे भी 'हर' पाठकी ही अधिक संभावना जान पड़ती है ।

फलतः हमारी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि उक्त सोरठेमें 'हरि' के स्थानपर 'हर' पाठ ही कदाचित् अधिक शुद्ध है । यदि यह पाठ मान्य हो तो 'नररूप हरि' से किन्हीं नरहरिदासजीके उनके गुरु होनेकी कष्ट-कल्पना भी बहुत कुछ दूर हो जाती है ।

गोस्वामीजीने 'मानस' के लिए राम चरित 'अध्यात्म-रामायण' से ही वस्तुतः लिया है, यह निर्विवाद है । 'अध्यात्म-रामायण' के कर्ता हैं शिवजी, जिन्होंने उसे उमासे कहा है । इसी तथ्यको गोस्वामीजीने इसप्रकार कहा है—

रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ उमासन भाखा॥[2]

और 'रामचरितमानस' के भी प्रमुख वक्ता श्रोता शिव शिवा ही हैं । एक प्रकारसे यों भी शिवजी तुलसीदासजीके गुरु ठहरते हैं ।

गोस्वामीजीने 'मानस की मूल कथा प्रारंभ करनेके पूर्व सती-मोह और उमा शंभु विवाहकी कथा कही है । केवल प्रबंधकी दृष्टिसे सती मोह प्रकरण ही आवश्यक नहीं था, उमा-शंभु विवाह प्रकरणकी बात तो दूर रही, क्योंकि बिना इन प्रकरणोंके भी 'अध्यात्मरामायण' और 'वाल्मीकि-रामायण' का प्रारंभ सुंदर हुआ है । लेखक का अनुमान है कि भगवानसे पूर्व उनके भक्त और कदाचित् सबसे बढ़ भक्तकी कथा कहनी ही गोस्वामीजीको इष्ट थी, इसलिए इसप्रकार सती-मोह और उमा-शंभु विवाह प्रकरण उन्होंने राम कथासे पूर्व रक्खे, यद्यपि इनका उससे प्रबंधकी दृष्टिसे कोई संबंध नहीं था । भागवत

---

[1] विनयपत्रिका ९, १०, १३ और १२ क्रमशः

[2] 'रामचरितमानस', (रामदास गौड़का संस्करण) बाल०, दो० ३५

संप्रदायने कदाचित् शिवको ही हरिका सबसे बड़ा भक्त माना है। इसके प्रमाण-स्वरूप हम 'श्रीमद्भागवत' चतुर्थ स्कंधके दूसरेसे चौथे अध्यायतक की कथा ले सकते हैं, जिसमें दक्ष-द्वारा शिवके अपमान, दक्षका यज्ञ, सतीके देहत्याग और पुनः शिवके प्रसन्न होनेपर यज्ञकी समाप्तिका सविस्तर वर्णन हुआ है। अथवा, 'भक्तमाल' के सातवें छप्पयपर प्रियदासजीकी टीकाको ही हम ले सकते हैं। उक्त छप्पयमें द्वादश भक्तोंका उल्लेख किया गया है—जिनमें 'बिधि नारद शंकर सनकादिक' की गणना की गई है। प्रियादासजीने टीका केवल शिवजी और अजामिलके संबंधमें की है, अजामिलकी कदाचित् इसलिए कि उससे श्रीनारायणके नाम-स्मरणका माहात्म्य सूचित होता है और शिवजीकी कदाचित् केवल इसीलिए कि वह भक्तिका चरम आदर्श उपस्थित करती है। इस टीकामें उन्होंने सती-मोह और शिव-द्वारा सती-त्यागकी कथा भी कही है। फलतः कदाचित् अपने सामने भक्तिका चरम आदर्श उपस्थित करनेके कारण भी शिवजीको गोस्वामीजीने गुरुवत् माना है और अपने इन 'गुरु' का चरित्र 'गोविंद' के चरित्रसे पहले गाया है।

'मानस' के बालकांडके प्रारंभकी वंदनाओंके संबंधमें ऊपर हम देख ही चुके हैं, अयोध्या और अरण्यकांडोंके भी प्रारंभ करनेवाले पहले ही श्लोक शिवजीकी वंदनामें कहे गए हैं। संभव है लोग इस विशेषताके लिए अन्य कारण दे सकें; किंतु लेखकको तो इस विशेषतामें स्पष्ट व्यंजना दिखाई पड़ती है कि शिवजीको गुरु माननेके कारण ही कदाचित् आप-से-आप उनकी वंदना इन कांडोंमें रामकी वंदनासे भी पूर्व हो गई है।

भारतीय भक्तोंने अपने सामने सदा यही सिद्धांत रक्खा है—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।[१]

कदाचित् इसी सिद्धांतके अनुसार शिवजीकी स्तुतिमें कहे गए एक स्तोत्रमें तुलसीदासजी उन्हें न केवल 'निर्गुणं निर्विकारम्' कहते हैं, वरन् 'विष्णुविधिवंद्यचरणारविंदम्' भी कहते हैं[२]। एक दूसरे स्तोत्रमें उन्होंने शिवजीको 'राम-रूपी रुद्र'[३] कहा है, और एक अन्य स्तोत्रमें हरि और शिवकी एकत्र स्तुति की है और उसका नाम 'हरि-शंकरी-नाममंत्रावली' रक्खा है।[४]

---

[१] 'भक्तमाल' का मूल, मंगलाचरण, दो० १

[२] 'विनय-पत्रिका', १२

[३] वही, ,, ११

[४] वही, ,, ४९

इन कुछ बातोंपर ध्यान देनेसे हमारी यह धारणा अत्यंत पुष्ट हो ज
है कि ऊपर उद्धृत—

'गुरु पितु मातु महेस भवानी' आदि

अथवा—

बंधु गुरु जनक जननी बिधाता।[१]

आदि वाक्योंको कहते हुए भी शिवजीको गोस्वामीजी आदिसे अंतर
गुरुवत् मानते रहे। फलतः लौकिक गुरु हम चाहे जिसे मानें उनके अलौकि
गुरु शंकर ही थे इसमें संदेह नहीं, और कदाचित् यही वह नाता था, ए
तुलसीदासको अपने अंतिम दिनोंमें भी सबसे अधिक मान्य था।